सहजानंद शास्त्रमाला

नियमसार प्रवचन पंचम भाग

(व्यवहार चारित्र अधिकार)

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर,इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक **'नियमसार प्रवचन पंचम भाग'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यावहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें गाथा 67 से गाथा 76 तक के प्रवचन प्रस्तुत हैं ।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सकें इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे । इसी ग्रन्थ की PDF फाइल http://is.gd/varniji पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर, इन्दौर** एवं प्रूफ चेक करने में **श्री सुरेशजी पांड्या, तिलकनगर, इन्दौर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा
53, मल्हारगंज मेनरोड़
इन्दौर (म०प्र०)
Phone-0731-2410880, 9753414796
Email-vikasnd@gmail.com
www.jainkosh.org

Contents

प्रकाशकीय 2
गाथा 67 4
गाथा 68 8
गाथा 69 12
गाथा 70 20
गाथा 71 26
गाथा 72 39
गाथा 73 49
गाथा 74 56
गाथा 75 59
गाथा 76 63

नियमसार प्रवचन पंचम भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री 105 क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी 'श्रीमत्सहजानन्द' महाराज

(प्रारम्भ के 19 पृष्ठ चतुर्थ भाग के अंत में हैं, अतः यहाँ पर पुनः नहीं दिए गए हैं)

मनोगुप्ति का श्रेयभूत चिन्तन—यह गुप्ति उन्हीं साधुसंत के प्रकट होती है जिन्हें चिन्ता केवल परमागम के अर्थ की है। इसे चिन्ता नहीं कहते हैं—चिन्तन, ध्यान, चितवन ये सब एकार्थक हैं, सो इसका तात्पर्य यह हुआ कि तत्त्ववेदी वस्तुस्वरूप के पारखी जितेन्द्रिय पुरुष के ही मनोगुप्ति हो सकती है। जब यह मन चंचल रहता है तो कैसी विह्वलता की स्थिति रहती है, यह बात उनके देखिये उदाहरण रूप में जिनके इष्टवियोग हो गया है अथवा कोई अचानक आर्थिक बड़ा टोटा पड़ गया है या जो अपनी इज्जत पोजीशन के लिए ही जिन्दा हैं, जिनके पोजीशन में कुछ थोड़ासा बट्टा लग गया है उनके निकट बैठकर परख लो कि जिनका मन चंचल है उनकी कैसी दशा हुआ करती है? इस आत्मतत्त्व का तो द्रव्यमन कुछ नहीं है और भावमन भी इसका अंतस्तत्त्व नहीं है, फिर उस मन घोड़े के आधीन होकर अपने आपको कैसा रुलाया जा रहा है? अपने मन को वश में करो, अशुभ चिंतन तो छोड़ ही दो और शुभ चिंतन में रहकर भी इससे भी उत्कृष्ट चिंतन रहित शुद्ध ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का ध्यान बनाये रहो।

जिन चरणचञ्चरीक गुप्तमनस्क साधुपरमेष्ठी—यह मनोगुप्ति उन्हीं पुरुषों के प्रकट होती है तो अंतरंग और बहिरंग सभी प्रकार के संग प्रसंगों से दूर हैं, जिन्हें अनन्त आनन्दमय विज्ञानघन जिनेन्द्रदेव के चरणों का स्मरण निरन्तर बना रहता है, जिनकी दृष्टि कार्यपरमात्मतत्त्व की ओरऔर कारण परमात्मत्व की और रहा करती है—ऐसे ज्ञानी संत पुरुषों के मनोगुप्ति होती है। ऐसी मनोगुप्ति के धारक पवित्र रत्नत्रय की मूर्ति साधु परमेष्ठियों को हमारा भावनमस्कार हो। अब इसके बाद वचनगुप्ति का लक्षण कहा जा रहा है।

गाथा 67

थीराजचोरभत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स।
परिहारो वचगुत्ती अलीयादिणियत्तिवयणं वा।।67।।

दुर्वचनपरिहार की आवश्यकता—इस गाथा में वचनगुप्ति का स्वरूप कहा गया है। पाप के कारणभूत स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, भोजनकथा इत्यादि वचनों का परित्याग करना अथवा अशुद्ध वचनों की निवृत्ति करना, इसे वचनगुप्ति कहते हैं। वचनों को जितना कम बोला जाय उतना आत्मबल बढ़ता है। परमात्मतत्त्व के प्रदीपन के लिए तो सर्व प्रथम यह आवश्यक हे कि बाह्य वचनों का त्याग करे और अन्तर्जल्प का भी सम्पूर्ण रूप से त्याग करे, हितकारी भी वचन हों, सत्य भी हों तिस पर भी वचनों का परिहार करें वहाँ वचनगुप्ति प्रकट होती है। फिर जो अत्यन्त दुर्वचन हैं, भोगों में ले जाने के वचन हैं उनका तो परिहार सर्वप्रथम आवश्यक हैं।

विकथायें—ऐसे वचन मुख्यतया चार प्रकार के हैं—स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, भोजनकथा।जिसके कामभाव बढ़ रहा है, ऐसा कामी पुरुष स्त्रीसम्बन्धी संयोगवियोग वाली नाना प्रकार की रचना करता है, ऐसी स्त्रीकथा का कहना

अथवा सुनना ये दोनों पाप के कारण हैं। राजावों की चर्चा करना युद्धादिक की वार्ता करना ये सब राजकथा हैं। कल्याणार्थी पुरुष को राजकथा भी न करनी चाहिए।चोर सम्बन्धी कथा का नाम चोरकथा है। चोरी का उपाय बताना अथवा यहाँ वहाँ की सम्पूर्ण चोरी की कलावों का वर्णन करना यह सब चोरकथा है।जब भोजन से प्रीति बढ़ जाती है तब वह भोजन पान की प्रशंसा किया करता है, अमुक प्रकार से अच्छा भोजन बनता है, भक्तकथालापी घी शक्कर आदि की बनी हुई चीजों की प्रशंसा करता है। भोजन सम्बन्धी राग को व्यक्त व पुष्ट करने वाली बात कहना भोजनकथा कहलाती है।

साधुसंतों के असत् कथावों का अभाव—ये चारों प्रकार की कथायें साधु संतों के नहीं होती हैं। इन कथावों में से प्राय: करके आज के त्यागी लोग स्त्रीकथा तो किया ही नहीं करते। वह तो बहुत ही भद्दी बात है, कुछ प्रयोग देशकथा का राजकथा का हो जाता है और कुछ प्रयोग भोजनकथा का हो जाता है। जिनकी इन्द्रियों में इतनी आसक्ति है कि वे भोजन करने के बाद भी भोजन की कथा करते हैं—यह चीज ऐसी बनी है, यह ठीक नहीं बनी है, ऐसी भोजनकथा करने वाले लोग महा गये बीते कहे जाते हैं। इन कथावों की निवृत्ति हो तो वचनगुप्ति बनती है अथवा असत्य वचनों का न कहना सो वचनगुप्ति हैं।

सकल वचनपरिहार की भावना—सर्वोत्कृष्ट तो, किसी भी प्रकार के वचनों का न कहना, वचनों का पूर्ण संन्यास होना सो वचनगुप्ति है। जिस ज्ञानी पुरुष को ऐसा विश्वास है कि विश्व में कोई भी अन्य पदार्थ मेरा नहीं है या अन्य पदार्थ विषयक परिणमन भी ऐसा नहीं है जो मेरे लिए हितकर हो और शांति का कर सकने वाला हो, फिर किसकी चर्चा करू? लोक में जो कुछ दिखता है वह जाननहार नहीं है और जो जाननहार तत्त्व है वह दिखा नहीं करता। तो फिर मैं किससे वार्तालाप करू? जड़ से बात करने में क्या लाभ? चैतन्य से बात की नहीं जा सकती। इस कारण अब किससे बोलें, ऐसी भावना से भरा हुआ ज्ञानी पुरुष वचनगुप्ति का पालन करता है।

आत्मप्रशंसा व परनिन्दा के वचनों का परिहार—जो अपने मुह से अपनी प्रशंसा करें उनकी दीनता का तो वर्णन ही क्या किया जाय? वे तो मायामय असार असमानजातीय पर्यायों से अपने बड़प्पन की भीख मांग रहे हैं तब तो वह अपने मुह अपनी प्रशंसा कर रहे हैं। सर्वप्रकार के आत्मप्रशंसा के भी वचनों का परिहार होना सो वचनगुप्ति है। आत्मप्रशंसा और परनिन्दा ये ऐसे दुर्वचन हैं कि इनके कारण नीच गोत्र का बंध होता है और फिर समझने वाले सब जानते हैं। वे जानते हैं कि यह दुनिया में अपनी प्रशंसा की बात सुनने का अत्यन्त इच्छुक है। यह कितना घमंडी है, क्रूर आशय वाला है कि दूसरों को तुच्छ जानता है और निन्दा किया करता है। जिन्हें वचन संयम में प्रवेश करना है उन्हें सर्व प्रथम इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अपनी प्रशंसा के वचन और दूसरे के निन्दा के वचन न बोले जायें। इनसे बड़प्पन नहीं होता, किन्तु तुच्छता जाहिर होती है।

ज्ञानी का पर में अनुराग का अभाव—ज्ञानी संत जानता है कि क्या बोलना, किसकी बात बोलना, किसी भी पदार्थ से मेरा सम्बन्ध नहीं, हित नहीं, तो बोलना किस बात से? बोलने के लिए कुछ है ही नहीं, बाह्यपदार्थों में मेरा कुछ करने के लिए है ही नहीं, किसका करना, क्या किया जाय, क्या किया जा सकता है? यह आत्मा ज्ञानमात्र भावात्मक एक चैतन्यस्वरूप है। परपदार्थ में इस आत्मा की गति नहीं है, कुछ काम ही नहीं पड़ा है करने को। यह तो केवल अपने भाव बनाता चला जाता है। अपने भाव बनाने के सिवाय अन्य कुछ नहीं करता। यह धन मेरा है, इस भाव के बनाने वाले तुम हुए पर धन तुम्हारा नहीं है। एक अणुमात्र भी इस जीव का कुछ नहीं है, ऐसे ही मिल गया, ऐसे

ही बिछुड़ जायेगा। ज्ञानीपुरुष समागम में रंच भी विश्वास और अनुराग नहीं रखते, ममत्व परिणाम नहीं करते। वे ज्ञाता द्रष्टा रहते हैं। तो ज्ञानी पुरुष को बाहरी पदार्थों में करने को कुछ नहीं रहा, करने को कुछ पड़ा है तो अपने आपमें अपने विवेक का काम पड़ा हुआ है। ऐसे ही ज्ञानी पुरुष जानते हैं कि बाहर में बोलना क्या? किसकी बात बोलना, कुछ भी वचन बोलने से इस मन का हित नहीं है। हम बाह्यवाणी का परित्याग करते हैं और अन्तर्वाणी का भी त्याग करते हैं। ऐसे अशेषरूप से संन्यास में प्रवृत्त हुए भव्य आत्मा को परमात्मतत्त्व का दर्शन होता है।

श्रद्धान् में प्रभुता के दर्शन—कोई लोग पूछते हैं—ईश्वर है, कहां है? मुझे तो दिखता ही नहीं, विदित ही नहीं होता। अरे श्रद्धान् हो तो ईश्वर का दर्शन होता है। उस प्रभु का दर्शन बाह्यक्षेत्र में न होगा। प्रभु के ही दर्शन की बात क्या, किसी भी पदार्थ का विज्ञान बाह्यक्षेत्र में नहीं होता, आत्मा के प्रदेशों में ही होता है। जैसे इन बाहरी पदार्थों को जो आंखों दिखा करता हैं। उसके जानने का उद्यम अंतरंग में होता है और अंतरंग कारण से होता है। यों ही प्रभु को भी जानना हो तो उसका प्रयत्न अंतरंग में करना होगा, और अंतरंग कारण की विधि से करना होगा। वह विधि यही हे कि सत्य श्रद्धान् बनावो। मैं आत्मा अपने सत्य के कारण अपने आप सहज कैसा हू उस स्वरूप का दर्शन करें, श्रद्धान् करें। और बाह्य में समस्त पदार्थ अहित हैं, जुदे हैं, हैं वे, उनका मुझसे कुछ सम्बन्ध नहीं है ऐसा जानकर सर्व प्रकार की चिंतनाएं, कल्पनाएं छोड़ दी जायें, एक परमविश्राम पायें तो अपने आपमें प्रभु के ज्ञानानन्द के अनुभव की पद्धति से दर्शन दे देगा और तब इसे यह सुविदित हो जायेगा कि मेरा शरण, मेरा प्रभु, मेरा सर्वस्व यह मैं सहज ही हू। यही स्वभाव जिसका द्रष्ट हो चुका है उसे रागद्वेष का मल रंच भी नहीं रहा है, ऐसे शुद्ध ज्ञानानन्द मात्र भगवान् का श्रद्धान् हो तो प्रभु के दर्शन होते हैं।

हार्दिक अनुराग की प्रेरणा—एक अखबार में कथा लिखी है कि एक पुरोहित एकादशी को भोग चढ़ाया करता था। उसके बहुत सी गाय, भैंसे थीं। उसके पास एक छोटी उमर का बरेदी लड़का था जब वह पुरोहित भोग चढ़ाने न जा सके तो उस बच्चे से कह दे कि आज भगवान् का भोग तुम लगा देना। एक बार उस बच्चे से कहा, बेटा ! तुम गाय चराने जावो और वहाँ तुम भगवान् को आज भोग लगाना। लो यह पाव भर आटा। लड़का बोला कि पाव भर आटे से क्या होगा, भगवान् भी खायेंगे, हम भी खायेंगे। कम से कम दो के लायक तो दे दो। पुरोहित बोला कि यों ही भगवान् का नाम लेकर कह देना और फिर स्वयं सब खा लेना। तो पाव भर आटा लेकर वह चला। पहिले से ही सोच लिया कि पाव भर आटे के दो टिक्कड़बनायेंगे, एक भगवान् को खिलायेंगे और एक स्वयं खायेंगे। सो उसने वहाँ जाकर दो टिक्कड़ बनाये और कहा आवो भगवन् !भोग लगावो। कोई न आया तो वह अड़कर बैठ गया और कहने लगा, अरे भगवान् तुम बड़े निर्दयी हो, आते क्यों नहीं, जब तक तुम नहीं आवोगे तब तक मैं न खाऊंगा। तो होते हैं ऐसे ही कोई व्यंतर देव जिनको कि कौतूहल प्रिय होता है, जैसे कि लोक में प्रसिद्ध है। भगवान् जैसा रूप बनाकर आ गया खूब सजधज कर। तब वह लड़का बोला कि मेरे पास दो ही टिक्कड़ हैं, हम भूखे तो रह नहीं सकते। इसमें एक आपके हिस्से का है और एक हमारे हिस्से का है। वह मायामयी रूप था, खा लिया। बाद में वह लड़का कहता है कि अबकी दफे तो तुमने बहुत हैरान किया अबकी एकादशी को मत हैरान करना। और वह भगवान् बोला कि अबकी दफे हम दो जने आयेंगे।

हार्दिक अनुराग का विस्तार—अब दुबारा पुरोहित ने कहा, जावो बेटा भगवान् का भोग लगावो। वह लड़का कहता है कि उस बार तो हम भूखे रह गये। इस बार तो दो आयेंगे तो कम से कम तीन के लायक तो आटा दो। वह

पुरोहित जानता था कि ये गप्पें हैं। खैर, दे दिया आधा सेर आटा। इस बार उसने वहाँ पर तीन टिक्कड़ बनाये। वे दो जने आये। बांट दिया एक-एक टिक्कड़। वे भगवान् कह गये कि अबकी दफे हम 20-25 आदमी मय संगीत के आयेंगे। पुरोहित ने जब उस लड़के से कहा कि जावो बेटा भगवान् का भोग लगावो तो वह लड़का कहता है कि इस बार तो 20-25 लोग आयेंगे। थोड़े से आटे से क्या होगा? कम से कम 20-25 लोगों के लिए तो दो। पुरोहित जानता था कि यह गप्पें करता है। लेकिन 10, 5 सेर की पूड़िया बनवा दीं और लड़के से कह दिया कि जावो बेटा, भगवान् का भोग लगावो। वहाँ पर उस लड़के ने जाकर भगवान् का भोग लगाया। पुरोहित उस दृश्य को देखने के लिए जंगल में जाकर एक पेड़ के नीचे छिप गया था। थोड़ी देर के बाद पुरोहित ने देखा कि 20, 25 आदमी खूब सजधज कर मय संगीत के आ गए हैं। वह सोचने लगा—अरे यह क्या हुआ है? मेरी तो जिन्दगी भोग लगाते-लगाते व्यतीत हो गयी, आज तक कभी न आये, पर आज यह क्या हो गया? यह एक कथा एक मासिक अख़बार में निकली हुई थी।

आत्मवार्ता—उक्त कथा के रहस्य केवल इतना लेना कि जो श्रद्धान् और संकल्प सहित अपने भावों को दृढ़ रखता है उसको उसही प्रकार का अवलोकन होता है। यह तो एक कथा मात्र है, पर अपनी ही बात और अपनी श्रद्धा में रहे फिर अपने को दर्शन न मिले, यह तो कभी हो ही नहीं सकता। आत्मसंतोष सत्य श्रद्धान् के बिना नहीं हो सकता। ऐसा आत्मसंतोष सत्य श्रद्धान्के बिना नहीं हो सकता। ऐसा आत्म संतोषी ज्ञानी पुरुष बाह्य में यह निरख रहा है कि कौनसा पदार्थ ऐसा है जिसकी चर्चा की जाय जिसकी बात बोली जाय अथवा जिसके सम्बन्ध में रुचिपूर्वक स्वच्छन्द वचनालाप किया जाय। ऐसा जानकर ये साधु संत वचनगुप्ति का पालन करते हैं। जानबूझकर मुह बंद करके वचन न बोलना, यह तो केवल व्यवहार मात्र वचनगुप्ति है। यों तो कभी-कभी लड़के भी खेल-खेल में होंठमिसा कड़ा मौन रखते हैं। जैसे कोई ऐसे खेल कबड्डी वगैरह खेले जिसमें लड़के लोग चीं बुलाकर रहते हैं, उसे पकड़ते हैं, घसीटते हैं कि वह बोले चीं। वह तो नहीं बोलता चीं। ऐसी जबरदस्ती का मौन रहना अन्तर में कुछ लाभ नहीं देता है। लाभ तो वह मौन देता है जो तत्त्वज्ञान पूर्वक है।

निश्चय व व्यवहारवचनगुप्ति—किसी भी प्रकार के वचनालाप से अन्तर में कुछ राग उठा करता है, ऐसी स्थिति में कुछ जान बूझकर सहज प्रयोजन के लिए जो वचनपरिहार किया जाता है वह है व्यवहारगुप्ति। और अज्ञानपूर्वक जबरदस्ती वचनों का बंद करना, होंठ में होंठ चिपकाकर मौन रह जाना, ये तो सब उसकी उपचार चेष्टाए हैं, किन्तु सहजस्वभाव से ही जो वचनालाप का परिहार हो जाता है यह है निश्चयवचनगुप्ति। इस आत्मा का स्वभाव वचन बोलने का नहीं है। यह तो आकाशवत् निर्लेप ज्ञानमात्र अमूर्ततत्त्व है। यहाँ कहां भाषा पड़ी है यहाँ कहां वचनालाप पड़े हैं? यह वचनों से अत्यन्त दूर है, ऐसे निरपेक्ष आत्मतत्त्व की दृष्टि रखने में जो सहज वचनालाप बंद हो जाता है उसका नाम है निश्चयवचनगुप्ति। ज्ञानी पुरुष बाह्य वचनों का सर्वथा अंतरंग से परित्याग करता है।

अन्तर्बहिर्जल्पनिवृत्त साधुवों की साधना—अंतरंग में अन्तर्जल्प का परित्याग होना बहुत बड़ी निर्मलता का काम है। कोई बात अंतरंग में भी न उठे, कोई वचन रचना अंतरंग में भी न आये, ऐसी साधना बहुत तत्त्वज्ञान की दृढ़ अभ्यास भावना से होती है। इन गुप्तियों का परिहार करके यह योगी अपने आपमें परमविश्राम लेता है। यह ही परमात्मा को प्रकट करने वाला परमार्थ योग है। निकट भव्यपुरुष भव भय को उत्पन्न करने वाली वाणी का परित्याग करता है और शुद्ध सहज चैतन्यस्वरूप अंतस्तत्त्व और अनन्त आनन्द के निधान परमविकासरूप प्रकाश प्रकट हो जाता

है। ऐसे साधुसंत जो दोनों प्रकार के वचनालापों से निवृत्त होकर अपने अंतर में अंतस्तत्त्व की भावना में ही निरत रहते हैं, वे बड़े अतिशय प्रभाव को प्रकट करते हैं। शुद्ध होना, संकटों से मुक्त होना इससे बढ़कर और इस जीव का अतिशय ही क्या है? ऐसे महान् अतिशय की प्राप्ति इस वचनगुप्ति से प्रकट होती है। हम वचनगुप्ति के कुछ-कुछ निकट पहुंचे, यों मौनसाधना से आत्मतत्त्व का एक परमविकास प्रकट होता है। यह ही कल्याण का मार्ग है।

गाथा 68

बंधणछेदणमारणआकुञ्चण तह पसारणादीया।
कायकिरियाणिवित्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्तित्ति।।68।।

कायगुप्ति के विवरण का संकल्प—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति के वर्णन के पश्चात् यहाँ कायगुप्ति का स्वरूप कहा जा रहा है। बांधना, छेदना, मारना, सिकोड़ना तथा फैलाना इत्यादि शरीर की क्रियावों की निवृत्ति कर देना सो कायगुप्ति है। किसी भी जीव को बांधना नहीं, इत्यादि उपदेश के रूप से कायगुप्ति में इस समय दूसरे जीवों के प्रति चेष्टावों का निषेध किया जा रहा है। कायगुप्ति में दोनों ही बातें होती हैं। दूसरों के प्रति अपने काय को न प्रवर्ताना और अपने लिए भी अपनी काय को न प्रवर्तना, सो कायगुप्ति है। इस ही कायगुप्ति का विवरण इस गाथा में किया गया है।

बन्धन के प्रसाधन—दूसरे जीवों के बंधने में अंतरङ्ग कारण तो उस जीव के कर्मों का उदय ही है और बहिरङ्ग कारण दूसरे जीव के शरीर का व्यापार है। किसी भी जीव के सुख अथवा दु:ख मेरे उपार्जित कर्मों के उदय के बिना नहीं हो सकता। कोई पुरुष यह जाने कि मैं इस जीव को बांधता हू, मारता हू, यह उसका अज्ञान भरा आशय है। जो जीव अपने द्वारा दूसरे को कुछ किया हुआ तकते हैं उनकी यह आत्मघातिनी दृष्टि है। किसी जीव के बंधने में अंतरङ्ग कारण निमित्त है और बहिरङ्ग निमित्त दूसरे पुरुष का व्यापार है। दूसरा पुरुष यदि रागद्वेष के वश होकर व्यापार कर रहा है तो उस व्यापारी की अपने ही परिणम के कारण हिंसा हुई है और प्राय: यह ही होता है। किसी के द्वारा अन्य जीव का बंधनादिक हो तो उसका आशय खराब होता है तब चेष्टा होती है। कोई कुन्थु जीव दब जाय उसमें तो यह भी संभव है कि बड़ी समितिपूर्वक चला जा रहा था, परिणाम भी शुद्ध था, भाव भी मलिन न था और गुजर गया जीव तो बंध नहीं होता, पर बांधने जैसी बात तो खुद में रागद्वेष हुए बिना, खुद का क्रूर आशय बनाये बिना हुआ नहीं करता। इस कारण यह काय-व्यापार तो नियम से कलुषाशयपूर्ण है, यह है काययोग। कायगुप्ति जहां नहीं है उसे काययोग कहते हैं। और जो योग है सोई आश्रव है।

छेदन के प्रसाधन—किसी पशु को, पक्षी को छेदने का भी अंतरङ्ग उसके कर्मों का उदय है और बहिरङ्ग कारण इस प्रमत्त जीव की काय की क्रियाए हैं। कोई अपने बालक बालिकावों के नाक, कान बड़े प्रेम से छेदते हैं। यद्यपि इसमें यह भाव नहीं है जैसा कि किसी शिकारी को पशु पक्षी या अन्य के छेदने में होता है। लेकिन यह भी बात नहीं है कि वहाँ वह आश्रव से बच जाता हो। कोई आत्मा राग से छेदता है, कोई द्वेष से छेदता है। वहाँ द्वेष को छेदा किसी पशु पक्षी का कुछ अंग, यहाँ बच्चा का नाक कान राग से छेदा। और कभी पशुवों को भी राग से छेदा जाता है। बैलों की नाक, ऊंटों की नाक किसान लोग छेदते है तो वे रागवश छेदते हैं उन्हें अपने स्वार्थ से राग है। चाहे राग से छेदे, चाहे द्वेष से छेदे, वह तो आश्रव है, काययोग है। छेदने का अंतरंग कारण उस जीव के कर्मों का उदय है

और बहिरङ्ग कारण उस प्रमादी की कायक्रिया है। कोई सोचे कि अरे इतना तो श्रम कर रहा है और उसे प्रमादी कहा जा रहा है। ठीक है, वह मोक्षमार्ग का प्रमादी है। मोक्षमार्ग की ओर उसकी दृष्टि तक भी नहीं है।

मरण के प्रसाधन और एक जिज्ञासा—इसी प्रकार किसी जीव को मारने में जो काय विकार होता है वह भी काययोग है, मारने का भी अंतरंग कारण तो उस मरने वाले जीव की आयु का क्षय है और बहिरङ्ग कारण किसी भी दूसरे जीव के काय का विकार है। कुछ ऐसा लग सकता है कि किसी का जीवन बना देना तो अपने हाथ की बात नहीं है, पर मारना तो अपने हाथ की बात है। कोई जीव को पैदा कर दे यह तो वश की बात नहीं है पर मारने में तो वश है ना। फिर मारने में भी मुख्यता तुम दे रहे हो। मरने वाले ही आयु के क्षय की। उसकी आयु का विनाश हो तो मरण होता है। समयसार जी में खूब लिखा भी है कि आयुकर्म के उदय के बिना जीवन नहीं होता, आयुकर्म के क्षय के बिना मरण नहीं होता। जब तत्त्व पर दृष्टि दें तो ये दोनों ही बातें सही लगती हैं अन्यथा हम यह कह सकते हैं कि जिन्दा कर देना भी हमारे हाथ की बात है। माचिस की सींक ली और खींचकर जला दिया तो देखो हमने आग पैदा कर दी कि नहीं?हमारे हाथ की बात है ना कि हम तुरन्त जीव पैदा कर दें।

पर के द्वारा पर के जीवन मरण का अभाव—भैया ! न तो जीवन अपने वश की बात है, न दूसरे जीव का मरण अपने वश की बात है। ऐसा मात्र निमित्तनैमित्तिक योग है कि दूसरे जीव के काय का व्यापार पायें और उसका निमित्त पाकर हमारी आयु की उदीरणा न हो जाय, बीच में ही अपघात हो जाय। मर गया, पर मरण नाम तब कहलाया जब उसकी आयु पूर्ण खिर जाय, यह चाहे किसी का निमित्त पाकर बने। इस जीव का यदि कुछ मार देना वश की बात हो तो देव, नारकी, तद्भवमोक्षगामी और असंख्यात वर्ष आयु वालों को क्यों न कोई मार दे? हाँ, अपवर्त्यायुष्कों में यद्यपि ऐसा ही योग है फिर भी मरण नाम दूसरे के व्यापार का नाम नहीं है, किन्तु आयु के क्षय का नाम है। यों ही जीवन भी किसी के हाथ की बात नहीं है। माचिस की सींक खींचकर लगा दिया कि आग पैदा हो जाती है, उसमें एक तो यह बात है कि तैजस काम जीवों से भरा हुआ लोक है और वे गुप्तरूप से जन्मते या मरते रहते हैं। सो आग का निमित्त पाकर अग्निकाय के जीवों का विकास हो गया। फिर दूसरी बात यह है जो सम्भवत: ठीक भी होगी। अग्निकाय और बाकी के सभी स्थावर दो प्रकार के हुआ करते हैं। कुछ अग्नि ऐसी होती हैं कि अग्नि का शरीर मात्र है, पर जीव नहीं है। सम्भव है कि आपके उन सब प्रयोगों में कोई जीव भी आ गया हो, कोई अग्नि जीवसहित हो, कोई जीवरहित हो, पर इसका आप नियम नहीं समझ सकते। इस कारण साधुसंत जन अग्निकाय के प्रयोगों से दूर ही रहते हैं। कुछ हो जीव का मरना उनकी आयु के क्षय के बिना नहीं होता। यह तो हुआ उनके मरण का अंतरंग कारण। और दूसरे गुण का काय विकार हुआ बहिरंग कारण।

आकुञ्चन प्रसारण का योग—इसी प्रकार किसी जीव को सकोड़ दिया या किसी जीव को फैला दिया यह भी काययोग है, हिंसा की बात है। जैसे केचुवा है, लट है, कुछ है, इन्हें पकड़कर अथवा लकड़ी से फैला रहे हो और किसी जीव को जरा दाब भी दें तो ये सब भी काययोग हैं, हिंसा की बातें हैं। इसका भी परिहार कायगुप्ति में रहता है। ये सब मोटी-मोटी बातें कहीं जा रही हैं। पर के प्रति जो कायचेष्टा होती है उसके निषेध की बात कही जा रही है, यों ही किसी को सिकोड़ देना, किसी जीव को हल्का बना देना यह भी काययोग है, इसका भी जहां निषेध है वहाँ कायगुप्ति होती है, ऐसी इस काय की क्रिया की निवृत्ति कर देने का नाम कायगुप्ति है। यह कायगुप्ति पर के प्रति काय

व्यापार का निषेध करने वाला कहा गया है, पर अपने लिए भी काय की चेष्टावों का परिहार करे तो कायगुप्ति का पूर्ण रूप होता है।

कायगुप्ति की असुगमता व महत्ता का एक उदाहरण—जिस समय राजा श्रेणिक ने किसी जगह हड्डियां गड़वाकर चेलना से जबरदस्ती आहार लगवाया था, उस समय चेलना ने कैसा कहकर पड़गाहा था कि हे त्रिगुप्तिधारी महाराज तिष्ठ, तिष्ठ, तिष्ठ। तब ऐसा प्रतिग्रह सुनकर एक मुनि एक अंगुली उठाकर चला गया, दूसरा मुनि भी एक अंगुली उठाकर चला गया और तीसरा मुनि भी एक अंगुली उठाकर चला गया। जब पूछा गया कि पड़गाहने पर आप चौके में क्यों नहीं पधारे? तो एक ने बताया कि मेरे मनोगुप्ति न थी, एक ने बताया कि हमारे वचनगुप्ति न थी और एक ने कहा कि मेरे कायगुप्ति न थी। जरा कायगुप्ति वाले की बात सुनिये। मैं मृतकासन से श्मशान में ध्यानस्थ हो रहा था मरे हुए आदमी की तरह हाथ पैर पसारकर निश्चल होकर पड़ा हुआ था। देव, शास्त्र, गुरु की पूजा में आप पढ़ते हैं मृतकासन, वज्रासन आदि। मैं मृतकासन से ध्यान कर रहा था। इतने में एक मंत्र सिद्ध करने वाला कोई पुरुष आया उसको जरूरत होगी मरे पुरुष की खोपड़ी पर खिचड़ी पकाकर खाने की। कोई तंत्र होता होगा। तो उसने मेरे सिर पर मरी खोपड़ी जानकर खिचड़ी पकानी शुरू कर दी। उसे मैं बहुत देर तक सहन करता रहा, पर थोड़ी देर बाद मेरा शरीर हिल गया था। तो मेरे कायगुप्ति नहीं है। इसलिए मैं पड़गाहने से नहीं आया। उसने तो त्रिगुप्तिधारी महाराज कहकर बुलाया था।

साधु की प्रगतिशील साधना—चेलना ने त्रिगुप्तिधारक यों कहा कि जिसके तीनों गुप्ति हैं उसको अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान जैसी ऋद्धियां प्रकट हो जाती हैं। यदि ऋद्धि सम्पन्न कोई मुनि आवेगा तो वह मुनि यह सोचेगा कि त्रिगुप्तिधारी विशेषण लगाकर इसने क्यों पड़गाहा। वह जान जायेगा कि इसमें कोई न कोई बात है। साधु संत तो सच्चे होते हैं, वहाँ यह बात न होती है कि मान न मान मैं तेरा महिमान। लो आप समझ लीजिए कि अपने आपके शरीर की वेदना भी न सह सकने से तो कायगुप्ति से च्युत हो गया है, फिर हम आप लोग कितना पिछड़े हुए है अथवा वे साधु संतजन है जो बड़े-उड़े हाथ पैर चलायें, कुछ काम बनायें, काम करें, आरम्भ करें, महल बनवायें, धराई उठाई करें कितने वे च्युत हो गये? यही समझिये कि वे पतित हो जाते हैं। अरे न बने अपना शरीर संभालने की बात तो कम से कम गृहस्थजनों के करने योग्य आरम्भ के कार्यों में प्रवृत्त तो न रहें। गृहस्थों जैसे आरम्भ परिग्रहों में प्रवृत्त होने में तो प्रमत्तविरतपना भी नहीं रहता, यों संतजन काय के विकार को छोड़कर शुद्ध आत्मतत्त्व की बार-बार भावना करते हैं।

कायगुप्ति की सूक्ष्म और पूर्ण साधना—अरे जब मेरा निष्क्रिय स्वरूप है तो अट्टसट्ट काय व्यापार करने की क्या आवश्यकता है? मेरे में तो जरा भी योग हो तो वह मेरे स्वभाव से परे की बात है। फिर जान बूझकर रागद्वेष करके मोह बढ़ाकर किसी प्रकार के विकल्पों में फंसकर व्यापार बनाऊ यह तो अत्यन्त अनुचित बात है। दूसरे पुरुष के प्रति काय की चेष्टा हो या अपने आपमें भी संकोचन प्रसारण हो, ये सब कायगुप्ति नहीं है। कोई ऋद्धियों का प्रयोग करे, वैक्रियक ऋद्धि का प्रयोग क्या है हाथ पैर आदि फैलाना अथवा अन्य कोई इस अवस्था में समुद्घात प्रसरण हुआ ये सब कायगुप्ति से अलग चीजें हैं। भला बतलावो कि जहां शरीर को भी वश में किये हैं और फिर भी कारणवश

समुद्घात बन गया, वेदना समुद्घात हो गया, कषाय समुद्घात हो गया, इन उपायों से भी कुछ प्रसारण हो जाय तो कायगुप्ति का भंग माना गया है। फिर शरीर की चेष्टाए जो मनमानी करे उसके कायगुप्ति की तो चर्चा ही क्या करें?

धर्मप्रवृत्ति के लिये अज्ञानियों द्वारा ज्ञानियों में विश्वास होने की आवश्यकता—जो साधुजन कामविकार का परित्याग करते हैं, बार-बार शुद्ध आत्मा की सम्यक् भावना करते हैं उनका ही जन्म सफल है। जहां आनन्द भरा हो ऐसे स्वरूप की शरण में पहुंच जायें उससे बढ़कर इस लोक में कुछ कार्य भी है क्या, पर करें क्या?यहाँ ज्ञानियों और अज्ञानियों की झर मिलती नहीं है, क्योंकि अज्ञानी यह सोचता है कि यह ज्ञानी दु:खी है और ज्ञानी सोचता है कि ये अज्ञानी दु:खी हैं। ज्ञानी को अज्ञानी की चेष्टा पर विश्वास नहीं है और अज्ञानी को ज्ञानी की चेष्टा पर विश्वास नहीं है। अब बतावो धर्म की गाड़ी कैसे अच्छी तरह चले? नीचे ऊंचे पहिया लगे हों तो बढ़िया ढंग से धर्म की गाड़ी चले, यह कैसे हो सकता है क्योंकि जो धर्म कर चुके हैं उनके लिए मुख्यतया क्या है धर्म की और जो धर्म से अत्यन्त दूर हैं उनके धर्म की मुख्यता क्या? जो पार हो गए हैं उन्हें इस संसार से मतलब क्या? धर्म किसके लिये चलाना है, वे तो धर्ममय हो गए हैं। धर्म चलाया जाता है अज्ञानीजनों के लिए और अज्ञानीजन यहाँ हाथ भी नहीं धरते हैं। उन्हें ज्ञानियों पर विश्वास नहीं है। तो इस लोक में ज्ञानी और अज्ञानी की झर मिलती नहीं है। फिर भी कदाचित् कोई बिरले अज्ञानी ज्ञानियों से मिल जाते हैं तो वे ज्ञानी बनकर संसार के संकटों से पार होने का उद्यम करते हैं।

झर मिलने का अर्थ—झर मिलना किसे कहते हैं? पहिले ऐसे ताले लम्बे चौड़े बनते थे कि उनकी तीली की झर मिलाना पड़ती थी। किसी में दो झर लगी हैं, उसमें कुञ्जी से झर मिला कर ताला खोल देते थे। यों ही यह धर्म का ताला तब खुल सकता है जब ज्ञानी की झर में निकटभव्य किसी अज्ञानी की झर मिल जाय तभी इस लोक में धर्म की प्रवृत्ति चल सकती है।

साधु संतों का प्रताप और प्रसाद—उन साधुसंतों का जन्म सफल है जो कामविकार को छोड़कर बारबार शुद्धआत्मा की भावना में रत हैं। उन्हें कहीं बाहर में कुछ शरण ही नहीं दिखता। किसको प्रसन्न करना, किससे राग करना, मुझे किसी से मतलब नहीं, ऐसा ज्ञानी में साहस होता है इसलिए सहज ही बारबार शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना में ज्ञानी मुनियों की प्रवृत्ति होती है। सच्चे मुनियों का संग मिलना, उनका सहवास मिलना, सत्संग होना यह बड़े सौभाग्य की बात है। जहां उपासक बारबार यह ध्यान ध्या सके, जिसकी मुद्रा को देखकर जिनकी अंतरङ्ग चेष्टा का विचार करे कि अहो इनका उपयोग देखो, कैसा निरन्तर एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूप की ओर बना रहता है? अहो इसीलिए यह प्रसन्न हैं, इसीलिए ये सदा सुखी रहते हैं। मैं मोही पुरुष कहां इस संसार में डोल रहा हू। मुद्रा मात्र को देखकर उदय सुन्दर का बहनोई बज्रभानु जैसा महा मोही क्षणमात्र में ही मोहरहित हो गया। आप बतलावो कि साधु के संग और दर्शन से कितना भला होता है? वह कितना मोही था लेकिन उस साधु की मुद्रा के दर्शन कर इतना बड़ा प्रताप हुआ कि उसका भला हो गया। ये साधु संत निरन्तर अपने शुद्ध आत्मतत्त्व के ध्यान में रहा करते हैं। जो ऐसे साधुजन हैं उनके मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति सम्यक् विधि से चलते रहते हैं, उनका ही जन्म सफल है।

निश्चय के सहवास से व्यवहार के प्रताप का सम्बन्ध—इन गुप्तियों के प्रकरण में यहाँ तक व्यवहारनय से मनोगुप्ति क्या है, वचनगुप्ति क्या है और कायगुप्ति क्या है—इसका वर्णन किया गया है। अब यह बताया जाएगा कि

निश्चयनय से मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति क्या है? इसमें मनोगुप्ति और वचनगुप्ति के वर्णन में एक गाथा आएगी और कायगुप्ति के वर्णन में स्वतन्त्र एक गाथा आएगी। उससे यह विदित होगा कि ओह, निश्चय की मनोगुप्ति बिना, निश्चय की वचनगुप्ति बिना, निश्चय की कायगुप्ति बिना वह गुप्ति भी श्रमरूप रहती है, पर उतनी लाभप्रद वह नहीं हो सकती, जितनी निश्चय गुप्ति के साथ रहकर लाभकर होती है। अब उन्हीं गुप्तियों का वर्णन चलेगा।

गाथा 69

जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तन्मणोगुत्ती।
अलियादिणियत्तिं वा मोणं वा होइ वदिगुत्ती।।69।।

मनोगुप्ति—मन से रागादिक दूर हो जाना, इसका नाम है मनोगुप्ति। यद्यपि रागादिक आत्मा से दूर होते हैं, लेकिन मनोगुप्ति के प्रकरण में इस भावमय को जो कि आत्मा का एक परिणमन है, उससे रागादिक का हटाना बताया गया है। इससे यह तत्त्व भी निकलता है कि आत्मा तो एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है, उसमें राग है कहां जो हटाया जाए। आत्मा के परिणमन में राग है, पर्याय में राग है, स्वभाव में राग नहीं है, इसलिये पर्याय भूत भावमन से रागादिक को हटा देने को मनोगुप्ति कहते हैं। यहाँ निश्चय मनोगुप्ति का लक्षण कहा जा रहा है। समस्त मोह रागद्वेषों का अभाव होने से जो अखण्ड अद्वैत परमचित्स्वरूप में स्थिरता के साथ स्थिति होती है, उसका नाम है निश्चयमनोगुप्ति।

निश्चयमनोगुप्ति का प्रताप—जो पर्यायें होती हैं वे ही हटायी जा सकती हैं। द्रव्य स्वभाव गुण—ये निकाले से कभी हटते नहीं हैं। मोह रागादिक—ये विभावपर्यायें हैं। यद्यपि इनका हटाना इनके निमित्तभूत कर्मों के हटाने के अनुसार है, तथापि कर्मों पर दृष्टि देकर कर्मों को हटाने का प्रयत्न करके ये विभाव नहीं हटाये जाते है। एक आत्म प्रयत्न से ही, ज्ञानरूप पुरुषार्थ से ही अपने आपमें से विभाव हटाया जाता है और इस प्रयत्न का निमित्त पाकर ये द्रव्यकर्म स्वयं अपनी परिणति से हट जाया करते हैं। जो साधु संत ऐसी निश्चयमनोगुप्ति का पालन करते हैं, वास्तव में मन का वश होना उनके ही हो सकता है अन्यथा मन को वश करना जिन्दा मेंढकों को तौलने के बराबर है। जैसे कि जिन्दा मेंढक तौले नहीं जा सकते हैं—जरा 5 सेर जिन्दा मेंढक बड़ी तराजू के एक पलड़े पर रखकर तौल दो तो क्या कोई उन्हें तौल सकता है? नहीं तौल सकता है, एक रक्खेगा तो एक उचक जायेगा, फिर एक रक्खेगा तो एक दो उचक जायेंगे, वे तराजू में रक्खे ही नहीं रह सकते हैं, यों ही यह मन वश नहीं किया जा सकता है। यदि निश्चयमनोगुप्ति की छाया इसमें उज्ज्वल हो जाय तो यह मन वश में किया जा सकता है। अन्यथा एक जगह मनोरोध करोगे तो संभव है कि उस जगह मन न आये पर दूसरी जगह मन चला जायेगा।

मन की नपुंसकता—यह मन चंचल है और साथ ही यह मन होने को तो बड़ा हामी है, छाया हुआ है लेकिन मन नपुंसक है, यह किसी भी विषय को भोगने में समर्थ नहीं है। यह तो खेल देखता है और उस खेल को देख-देखकर खुश होता है। जैसे कोई नपुंसक किसी प्रकार से विषयभोग के योग्य नहीं है लेकिन यह नपुंसक केवल खेल देखता है और वहाँ ही बात बनाकर, बातूनी होकर अपने मन को राज़ी करता है। यों ही यह मन शब्दों से भी नपुंसक है और कार्य में भी नपुंसक है, इन्द्रियां विषयों में प्रवृत्त होती हैं वहाँ कुछ काम नजर आता है। वह यद्यपि खोटा काम

है लेकिन समझ में तो आता है कि हाँ कुछ स्वाद लिया, हाँ कुछ सूघा, हाँ कुछ छुवा, हाँ कुछ देखा, पर मन क्या करता है? उसकी बात कुछ ग्रहण में ही नहीं आती है। और ऊधम ऐसा मचा रक्खा है कि इस प्रभु का इस मन ने बिगाड़ कर दिया है, और है वहाँ कुछ भी नहीं। यों जैसे कोई मजाकिया पुरुष किसी को दवा बता दे—देखो भाई धुंवा की तो कोपल लाना, बादल की छाल लाना और अंधेरे के फूल लाना, इन सबको मिलाकर घोटकर पी लेना, तुम्हारा रोग मिट जायेगा। अब लावो धुंवा की कोपल, बादल की छाल और अंधेरे का फूल। जैसे ये कुछ नहीं है ऐसे ही मन की बात भी कहीं कुछ नहीं है। केवल ख्याल ही ख्याल है। पर यह तो इन्द्रिय से भी अधिक उद्दण्ड और हामी हो रहा है।

मन का वशीकरण—इस उद्दण्ड मन का वश में करना उनके ही संभव है जो भेदविज्ञान के द्वारा अपने परमार्थ शरणभूत आत्मतत्त्व में पहुंचे हैं। उनके आगे मन कुछ नहीं कर सकता है। बाकी संसार के समस्त जीवों को यह मन मानों स्वच्छन्द होकर बेरोकटोक सता रहा है। सर्व प्रकार के रागद्वेष मोह जहां नहीं रहे उसी आत्मा में वह सामर्थ्य प्रकट होती है कि निज अखण्ड अद्वैत चित् प्रकाशमात्र स्वरूप में उपयोगी हो सकता है अपने इस शाश्वत स्वभाव में स्थिर होने का नाम है निश्चयमनोगुप्ति। ऐसी स्थिति में भावमन से ये रागादिक भाव निकल जाते हैं और फिर यह मन वश में हो जाता है। वश होने का अर्थ यह है कि फिर हम इसे उत्तम कार्य में लगा सकते हैं। उत्तम कार्य में किसी को लगा देने का नाम है वश करना।

कुपथ से निवृत्ति का नाम वशीकरण—जैसे कोई पुत्र कुपूत हो गया है, उद्दण्ड हो गया है अर्थात् गंदे कुपथ के कार्यों में लग गया है। अब उसे कहते हैं कि यह वश नहीं रहा। अरे वश करने का अर्थ बांधना नहीं है कि यह रस्सी से बंध नहीं पाता। यह वश नहीं रहा अर्थात् कुपथ में भागा-भागा फिर रहा है। जब कभी ज्ञान उपदेश शिक्षा देकर किसी उपाय से उसका आचरण ठीक हो जाय तो कहते हैं कि मेरा पुत्र मेरे वश हो गया है। अरे पुत्रादिक कोई भी तेरे वश न था, न है, न होगा, किन्तु कुपथ से हटकर सुपथ में लग गया है, इसी के मायने हैं वश में हो गया है। यों ही वह मन कुपथ में भागा-भागा फिर रहा था, अब ज्ञानबल से इस मन से उन रागादिक भावों को हटा दिया अब इसका कुपथ दूर हो गया। अब यह सुपथ में आने लगा। इसका नाम है मन वश में हो गया। वह सुपथ क्या है?वह एकरूप है। निज सहजस्वभाव के अवलोकन को ही सुपथ कहते हैं। अब यह मन, यह विचार, यह ज्ञानधारा सहज स्वरूप की ओर उन्मुख होने लगी है, ऐसी स्थिति को कहते हैं निश्चयमनोगुप्ति।

कुपथगमन के प्रारम्भ में ही सावधानी की आवश्यकता—भैया ! प्रारम्भ में ही कुपथ में जाना बहुत बड़े अहित को लिए हुए है। कुपथ को मान लेना एक रिपटने वाली जगह में चलने के बराबर है। जैसे बरसात में चिकनी जमीन पर जहां कि पैर रिपट जाते हैं उस पर चलना बड़ी सावधानी का काम है। यदि थोड़ा भी पैर वहाँ रिपटे तो वहाँ अपने को संभालना बहुत कठिन है। संभाला तो संभला, नहीं तो नीचे धड़ाम से गिर जाता है। ऐसे ही यह मन जब प्रारम्भ में थोड़ा कुपथ में चलता है उसही समय ज्ञान की सावधानी से इलाज कर सको तो कर लो। यदि वहाँ मन को कुपथ से न रोका जा सका तो कुछ समय के बाद उस मन को कुपथ में रोकना कठिन हो जाता है। कोई भी मनुष्य आरम्भ में इतना बिगड़ा हुआ नहीं होता है। किसी भी पुरुष को कोई व्यसन लग जाय तो ऐसा नहीं है कि मानो वह 30 वर्ष, 3 महीने, 3 दिन, 3 घंटे तक तो वह बिल्कुल साफ था और इसके बाद जहां

दूसरा मिनट लगा तो वह महान् वेश्यागामी बन गया, ऐसा नहीं होता है। आरम्भ में मन थोड़ा ही बिगड़ता है। बस, उस थोड़े बिगड़े मन की जब हम परवाह नहीं रखते, सावधानी नहीं रखते तो मन का धीरे-धीरे बिगड़ना बढ़ता जाता है और वह बहुत बड़ा भयंकर विडम्बना का रूप रख लेता है। इस कारण विवेकी पुरुषों को भी सावधानी रखना चाहिए कि थोड़ा भी चलित मन हो जा यतो उसको हटा दें, शुद्ध कर लें।

मन की विशेष शुद्धि के लिये तीन बार सामायिक—मन की शुद्धि के लिये दिन में तीन बार सामायिक बतायी गई है और प्रत्येक सामायिक 5।। अथवा 6 घंटे के बाद में होती है। सुबह की सामायिक, दोपहर की सामायिक और शाम की सामायिक होती है। सुबह की 5।। बजे की सामायिक के 6 घंटे बाद दुपहर की, उसके 6 घंटे बाद शाम की, उसके 6 घंटे बाद फिर सुबह की सामायिक होती है। बाकी टाइम सोने में आ गया। सभी सामायिकों के बीच 6 घंटे का समय रहता है। सोने पर क्या वश है? 6 घंटे जान बूझकर जो दोष आ गये हैं। मन को हिलाया डुलाया है, कुपथ का मुख तका है तो उसको शुद्ध कर लें। इसके लिए वह सामायिक का काल आता है। जैसे नीति में कहते हैं कि शत्रु का बालक भी रह जाना बुरा है। शत्रु को तो मूल से साफ करो, यह एक राजनीति की बात है। यहाँ अध्यात्मनीति में यह लगावो कि इस मन का थोड़ा भी बिगड़ना बुरा है, इसको तो समूल वश करें।

आवश्यकता के विषय में लोगों की गलत धारणा—लोग कहते हैं कि मुझे बहुत बड़ा आवश्यक काम है आज। आज मुझे रंच भी फुरसत नहीं है। आप लोग माफ करें मुझे जरा भी अवकाश नहीं है क्योंकि आज अत्यन्त आवश्यक काम है। लोगों के आवश्यक काम को तो देखो—किस काम को ये आवश्यक बता रहे हैं? वह काम मिलेगा इन्द्रिय का या भोग का या मन को खुश बनाये रहने के उपाय करने का। अन्य कोई काम न मिलेगा, किन्तु बोलेंगे गलत बात कि इतना आवश्यक काम है। अरे आवश्यक काम कहते किसे हैं? पहिले आप इस ही का निर्णय कर लो। आवश्यक शब्द ही यह बता देगा कि आवश्यक काम मेरा क्या है? आवश्यक शब्द में मूल वर्ण है वश। वश का नाम वश है। किसी के आधीन होने का नाम वश है और न वश: इति अवश:। जो वश में न हो उस पुरुष का नाम है अवश। जो इन्द्रिय के विषयों के आधीन न हो, जो किसी भी प्रकार परवस्तुवों के आधीन न हो ऐसे स्वाधीन पुरुष का नाम है अवश। अवशस्य कर्म इति आवश्यम्। जो अवश पुरुष का काम है उसका नाम है आवश्यक अर्थात् जिस परिणाम से, जिस ज्ञान से यह आत्मा अपने आपके आधीन रहे, निज सहज ज्ञानप्रकाश के अनुभवन से, पूर्ण प्रसन्न रहकर स्वतंत्र रहे उस परिणाम के करने का नाम है आवश्यक। अभी क्या कह रहे थे मुझे आज अत्यन्त आवश्यक काम है और काम किया अनावश्यक। ऐसे हैं वे काम जो पराधीन विषयकषाय हैं, जिनमें अनेक आपत्तियां हैं, अनेक कष्ट हैं।

वास्तविक आवश्यक—अपने आपमें यह श्रद्धा लावो कि मुझे यदि कोई आवश्यक काम है तो यह ही एक आवश्यक है कि अपने स्वरूप का अनुभवन करू और संसार के सारे संकट मेटू। किस पदार्थ में मोह ममता करके अपने को बरबाद किया जाय? यह घर न अभी काम दे रहा है न आगे काम देगा, यह तो छूट ही जायेगा। कहां के मरे कहां गये जिसका कुछ पता भी नहीं। दुनिया है 343 घन राजू प्रमाण। अच्छा घर का न सही तो समाज का तो हमें ख्याल करना ही चाहिए। यह समाज जो मायामय असमानजातीय पुरुषों का समूह है यह भी न अब शरण है न आगे शरण है और पता नहीं यहाँ के मरे कहां गिरे? यहाँ कौन मदद देने आयेगा? अच्छा देश की बात तो सोचना

चाहिए। तुम्हारा देश कौनसा है? आज इस जगह उत्पन्न हुए हैं, यहाँ की कथा गा रहे हैं और दूसरे अन्य देशों के लोगों को गैर, विरोधी, न कुछ जैसा समझ रहे हैं। और कोई यहाँ से मरण करके उन्हीं देशों में पैदा हो गया तब क्या सोचेगा? तब तो वह ही राष्ट्र अपने लिए सर्व कुछ हो जायेगा। अरे सोचो उसकी बात जिससे सदा काम पड़ता है। सदा काम पड़ेगा अपने आपके आत्मा से।

आत्मा की पवित्रता से परोपकार की संभवता—भैया !जो अपने आपके आत्मा की बात सोच सकता है और उस आत्मचिंतन से अपनी स्वच्छता पवित्रता ला सकता है ऐसे पुरुष के राष्ट्र का हित भी सहज स्वयमेव हो जाता है। ऐसे संत से समाज का हित भी स्वयमेव सहज हो सकता है। ऐसे ज्ञानी गृहस्थ से, जिस घर में वह बस रहा हो उस घर का हित सहज स्वयमेव हो सकता है। अत: पुरुषार्थ करना चाहिए परमार्थ आवश्यक काम के लिए। इस आवश्यक कार्य में उपयोग को बनाने का नाम ही निश्चयमनोगुप्ति है। हे शिष्य ! तू इस निश्चयमनोगुप्ति का अचलित रूप से अर्थात् स्थिर रूप से कर।

मन के रोध का अनुरोध—मन, वचन, काय इन तीनों का जो निसर्ग है, प्रवर्तन है उसमें सूक्ष्म प्रवर्तन तो है मन का, उससे स्थूल वचन का, उससे स्थूल काय का है। काय का कायपना बड़ी जल्दी सामने आता है, वचन की बात उससे कुछ सूक्ष्म है, लेकिन जीव पर संकट डालने के लिए काय की बात इतनी अधिक क्लेशकारी नहीं है, उससे अधिक वचन की बात है और वचन से भी अधिक मन की बात है। किसी पुरुष को एक दो थप्पड़ लगा दो तो इतना बड़ा रूप नहीं रखता जितना कि कटुक गाली गलौज का शब्द कह देना कटुक रूप रखता है और मन की बात तो यद्यपि दूसरे व्यक्तरूप से नहीं समझ पाते हैं, फिर भी खोटे मन वाले का असर पड़ौस में उत्तम होता ही नहीं है। किसी ने पूछा कि तुम मुझे कितना चाहते हो?तो उसका उत्तर मिला कि तुम अपने ही दिल से पूछ लो। जैसी तुम अन्य जीवों पर दृष्टि रक्खोगे अन्य जीवों का भी करीब-करीब वैसा ही उसके प्रति मन बनेगा और मन को बिगाड़ कर रखने से स्वयं में निरन्तर संक्लेश बने रहते हैं। इस तरह मन के दुरुपयोग को दूर करके हे कल्याणार्थी पुरुषों ! इस मन को एक आत्मतत्त्व के अनुभवन में ही लगावो, यह ही निश्चयमनोगुप्ति का उपाय है।

वचनगुप्ति—अब वचनगुप्ति का वर्णन किया जा रहा है। असत्य आदिक वचनों की निवृत्ति होना इसका नाम है वचनगुप्ति, अथवा मौन व्रत होना इसका नाम है वचनगुप्ति। वचनगुप्ति का उत्कृष्ट रूप तो पूर्ण मौन है और अनुत्कृष्ट रूप सर्व प्रकार की असत्य भाषा का परिहार कर देना है।

मौन शब्द का अर्थ—मौन शब्द का अर्थ रूढ़ि में चुप रहना है, किन्तु मौन का अर्थ चुप रहना नहीं है। मुनि के परिणाम को मौन कहते हैं। वचनों के बंद कर देने का नाम मौन नहीं है किन्तु मुनि के परिणामों को प्रकट कर देने में प्रमुख बाह्यरूप मौन कहो, चुप रहना कहो, वचनालाप का बंद कर देना है। इस कारण मौन शब्द की रूढ़ि वचनव्यवहार बंद करने में हो गई है। जैसे जब लोगों को यह विदित होता है कि फलाने साहब का मौन है, आज तो यह चार बजे तब न बोलेंगे अथवा कोई साधुजन रोज मौन रहते हैं, आजन्म मौन रहते हैं तो लोगों को विश्वास हो जाता है कि इनका परिणाम बड़ा उज्ज्वल है। दूसरी बात यह है कि जैसे मुनि को शुद्ध आशय में रुचि है वहाँ ही जिसकी वृत्ति है ऐसा पुरुष उस शुद्ध वृत्ति के परिणाम में मौन रहा करता है, चुप रहा करता है। इस कारण मौन शब्द

की रूढ़ि वचनव्यवहार बंद करने में आ गयी। सीधा अर्थ तो यह है कि मुनि के परिणाम को मौन कहते हैं। जो कुछ भी मुनि करे वह सब भी मौन है, जो कुछ भी मुनि विचारे वह सब भी मौन है।

किससे बोला जाय—इस ज्ञानी पुरुष के वचनव्यवहार की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती है? बताते है। अच्छा आप ही बतावो कि किससे वचन बोलें, व्यवहार करने योग्य दो जाति के पदार्थ हैं—जीव और पुद्गल। उनमें पुद्गल तो समझते ही नहीं हैं, अचेतन हैं। उनसे बोलकर क्या करना? वहाँ से न कुछ उत्तर मिलता है, न उनमें कोई अभिप्राय है, न वे प्रसन्न होते हैं, न वे रुष्ट होते हैं। पुद्गल तो, ये स्कंध तो जैसे हैं, पड़े हुए हैं इनसे वचन बोलकर क्या करना, अचेतनों से कौन बोलता है वचन? अज्ञानीजन भले ही इन पुद्गलों से वचन बोल दें अथवा पुद्गल से कुछ बोल दें तो बच्चे राज़ी हों तो हो जायें। किसी बच्चे के सिर में भींत लग जाय, रोने लगे तो भींत में दो चार थप्पड़ जमा दो तो बच्चा राज़ी हो जाता है। तो अज्ञानीजन पुद्गलों से बोलकर राज़ी हों तो हो जायें, पर बोलने का वहाँ कुछ काम नहीं है। भींत से बोलें? घड़ी से बोलें? चौकी से बोलें? किससे बोले? अब रहा दूसरी जाति का चेतन पदार्थ। वह अमूर्त द्रव्य है, उसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं। वह भावात्मक है, उसमें शब्द भी नहीं आते। चेतनों से भी कौन बोलता है अथवा बोला भी नहीं जा सकता।

शुद्ध दृष्टि से देखो तो यह आत्मा शब्द सुनता भी नहीं है। जैसे कि कार्यपरमात्मा शब्द सुनते नहीं हैं। केवली भगवान् जानते तो सब हैं, पर वे सुनते नहीं हैं, देखते नहीं हैं, सूघते नहीं हैं, छूते नहीं हैं, स्वाद लेते नहीं हैं। अब अपनी कल्पना में लावो कि बिना सुने, बिना देखे, बिना छुवे, बिना स्वादे, वह ज्ञान किस प्रकार का होता होगा? न भगवान् सुनते हैं और न यह आत्मतत्त्व सुनता है। भगवान् में और आत्मतत्त्व में अन्तर नहीं है। कार्यसमयसार में और कारणसमयसार में स्वरूप का अन्तर नहीं है। जैसे निर्मल जल और कीचड़ में पड़े हुए जल का स्वभाव इन दोनों का एक ही स्वरूप है और एक ही वर्णन मिलेगा। जरा गंदे जल और निर्मल जल का सामना करके आपसे हम पूछें कि आप निर्मल जल का वर्णन करो और इस जल के स्वभाव का वर्णन करो। तो दोनों का वर्णन स्वच्छ है, द्रव है और जो भी निर्मल जल में विशेषताए हैं उतनी ही बात इस जल के स्वभाव में लगानी पड़ेगी। यों ही कारणसमयसार और कार्यसमयसार के वर्णन में अन्तर नहीं है।

आत्मतत्त्व की अतीन्द्रियता—यह अमूर्तद्रव्य, यह अंतस्तत्त्व इन्द्रियज्ञान के अगोचर है। यह खुद इन्द्रियों द्वारा जानता भी नहीं है। यह अंतस्तत्त्व इसकी विषयप्रवृत्ति ही नहीं है। जो जानता है यों सुनता है इन्द्रियों द्वारा वह अंतस्तत्त्व नहीं है। यह इस आत्मा से अत्यन्त भिन्न नहीं है, किन्तु अंतस्तत्त्व नहीं है। इस अमूर्तद्रव्य के इन्द्रियज्ञान भी नहीं है और इन्द्रिय ज्ञान का यह विषयभूत भी नहीं है। शुद्धनय की दृष्टि से देखियेगा तो यह विदित होगा कि अन्तस्तत्त्व के इन्द्रिय भी नहीं है और इन्द्रियज्ञान भी नहीं है और कुछ अशुद्धनय की दृष्टि से देखिए तो इस जीव के इन्द्रियज्ञान हो रहा है लेकिन अमूर्त बराबर है। इन्द्रियज्ञान करने से कहीं, रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं आ जाते हैं। यों चैतन्यद्रव्य अमूर्त है, उससे वचनों की प्रवृत्ति सम्भव ही नहीं है।

उपासना का प्रयोजन स्वयं का उपासकत्व—भैया !20-40 वर्ष दसलाक्षणी में चिल्लाते हो गये, एक दिन भी भगवान् ने न सुनी और न वे कुछ कहने सुनने आये। कैसे कहने सुनने आये? वे सुनते ही नहीं हैं। पूजन तो अपने आपके प्रसाद के लिए है प्रभु को सुनाने के लिए नहीं है, न प्रभु को राज़ी करने के लिए है। हम अपने स्वभाव को

परखे और उस शुद्ध स्वभाव की दृष्टि करके प्रसन्नता पायें, निर्मलता पायें इसके लिए प्रभुभक्ति है। किससे बोलें? चैतन्यद्रव्य अमूर्त है और जो मूर्त है उसमें चैतन्य नहीं है। तो किससे बोला जाय? ऐसा जानकर साधु संतों के वचनों की प्रवृत्ति नहीं होती है। यों सहज वचनव्यवहार को जानना, इसका नाम है निश्चयवचनगुप्ति। धन्य हैं वे योगी जो शुभ अथवा अशुभ मन और वचन प्रवृत्ति को छोड़कर आत्मतत्त्व के निरखने में निरत रहा करते हैं। ऐसे ये योगिराज समस्त पापकर्मों को जलाने में अग्नि की तरह तेजस्वी प्रगतिशील रहते है।

बाहर ठौर ठिकाने का अभाव—जैसे कोई पुरुष अपने घर को छोड़कर दूसरे के गांव में घुसता फिरे और सब जगह से ललकारा जाय तो अंत में विवश होकर अपने घर में आता है और विश्राम की सांस लेता है। कहीं ठौर ठिकाना नहीं मिलता। यों ही यह जीव बाहर में यत्र तत्र इन्द्रिय विषयों में डोलता है। यह ही पर घर है, किन्तु हर जगह से ललकारा गया। चारुदत्त सेठ कई करोड़ दीनारों का स्वामी था। उससे बसंतमाला, तब तक ही प्रीति वचनालाप करती रही जब तक उससे धन प्राप्त होता रहा। जब कुछ न बचा तो क्या दुर्दशा हुई कि जब वह घर से जाय ही नहीं तो संडास में पटकवा दिया। जब सूअरों ने चाटा, भंगियों को मालूम पड़ा तब वहाँ से निकाला गया। जीव की प्रकृति देखो कब कितनी बुरी हो जाती है? जब उसे विवेक आया तब उसका जीवनस्तर इतना पवित्र बना कि उसे क्या कहा जाय?

निवृत्तिभाव का यत्न—संसार में जो कुछ भी न्यौछावर है वह भावों का न्यौछावर है, वस्तु का नहीं। भले ही कुछ स्वप्न में नगरी में पदार्थों का न्यौछावर बन गया, पर उसमें भी मूलस्रोत निहारो तो वह सब भावों का ही न्यौछावर है। मनुष्य की आवश्यकता और मनुष्यभव—यह सर्वपदार्थों का मूल्य है। इसलिये अपने भावों की स्वच्छता बनाये रहने का निरन्तर यत्न करना चाहिए। कभी कोई कषायभाव जगे तो उस काल में भी इतना विवेक रखें कि यह कषाय आयी है तो यह नाश के लिए आयी है। अभी जाने वाली है किन्तु इसका ग्रहण करके, अपना अपमान करके हम बहुत काल तक बरबाद होते रहेंगे। इसलिए जैसे किसी दुष्ट से पाला पड़ जाय तो जो भी सही राज होता है, उपाय होता है, उस उपाय से उससे दूर हो जाता है। ऐसे ही इन विषय-कषायों के परिणाम से पाला पड़ गया है तो जिस सुन्दर उपाय से ये विषयकषायों के परिणाम हट जायें उसे करे। ये सीधे नहीं हटते हैं तो थोड़े रूप से उन्हें ऊपर से रुचि करके हटा डालें।

निर्नय का निर्णय—ज्ञानी पुरुष अपने शुद्ध अन्तस्तत्त्व की निष्ठा में रहते हैं। यह अन्तस्तत्त्व शुद्धनय और अशुद्धनय दोनों नयों से परे है। प्राक् पदवी में यद्यपि इन जीवों को व्यवहार का हस्तावलम्बन है, किन्तु अन्तस्तत्त्व में कदम रखने पर यह व्यवहारनयमात्र ज्ञेय रहता है और निश्चयनय का आश्रय होता है। पश्चात् व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों का आश्रय टूट जाता है और दोनों नयों से, दोनों पक्षों से रहित शुद्धचिन्मात्र का संचेतन रह जाता है। जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में ऐसा पूछा जाय कि बतावो क्या जीव का स्वरूप राग है? तो यह समझ में झट आयेगा कि जीव का स्वरूप राग तो नहीं है और जब पूछा जाय कि जीव का स्वरूप क्या रागरहित है? तो उत्तर यही है कि आत्मतत्त्व रागरहित भी नहीं है, रागसहित भी नहीं है, वह तो ज्ञानमात्र है।

वस्तुस्वरूप की परानपेक्षता—वस्तुस्वरूप के दिग्दर्शन के लिये एक मोटा दृष्टान्त ले लो। यह बताओ अच्छा कि इस चौकी का स्वरूप क्या पुस्तक सहित रहना है, तो आप कहेंगे कि पुस्तक सहित रहना चौकी का स्वरूप नहीं

है। चौकी में मोटाई है, लम्बाई है, रंग है, वह स्वरूप है। और जब पूछा जाय कि इस चौकी का स्वरूप क्या पुस्तकरहित है? अजी यह भी स्वरूप नहीं है। लम्बाई है, चौड़ाई है, मोटाई है, रंगरूप है, यह भी स्वरूप नहीं है। यों ही आत्मा में देखो क्या विषयों का स्वरूप रागसहित होता है? नहीं जी। तो क्या रागरहित होता है? नहीं जी। मेरा स्वरूप तो ज्ञानानन्दस्वभावमात्र है, ऐसा यह शुद्धनय और अशुद्धनय से परे है।

चिन्मात्र चिन्तामणि—यह चिन्मात्र आत्मतत्त्व जो चिंतामणि की तरह है उसकी उपासना इन ज्ञानियों की रहती है। लोग कहते हैं कि चिंतामणि रत्न ऐसा होता है कि जिसके निकट रहते हुए जो आप विचारें वही मिल जाता है। अब दिमाग लगावो कि ऐसा चिंतामणि रत्न कहां होगा? वह काला है कि लाल है कि सफेद है कि वह कोई पत्थर है जो हाथ में आ जाय और जो भी चित्त में विचार करो वह चीज मिल जाय? ऐसी कोई चिंतामणि जैसी चीज संगति में तो नहीं बैठती। हाँ यों संगति लगा लो कि बड़ा कीमती रत्न है, बेचकर हलुवा पूड़ी खाना है तो उसको बेच लिया, बढ़िया सामग्री आ गयी और उससे हलुवा पूड़ी बनाकर खा लिया, ऐसा तो हो सकता है पर जो विचारो सो बन जाय ऐसा कभी नहीं होता। विचार से विवाह हो जाय, पुत्र हो जाय, क्या यों हो जायेगा? चिंतामणि से प्रार्थना करने से विचार करने से कुछ भी बन जाय ऐसा नहीं होता है। यों खर्च करने से लाभ हो तो यों फिर धन वैभव भी चिंतामणि बन गये। यह मकान महल है, अच्छा किराया दुकान का आता हो तो वह भी चिंतामणि है, उन्हीं की वजह से विवाह हो जाय और लड़के बच्चे पढ़ जायें, जो-जो विचारें सारे काम कर लें, पर वहाँ भी अन्तर पड़ता है, विघ्न पड़ता है, बहुत काल के बाद सिद्धि होती है। वह तो नहीं होता चिंतामणि। ऐसा कोई चिंतामणि नहीं होता, कोई पत्थर ऐसा नहीं है कि उसे हाथ में ले लो तो जो विचारों सो सिद्ध हो जाय। पर हाँ यह चैतन्यस्वरूप ऐसा चिंतामणि है कि जो विचारो वही सिद्ध हो जाय।

चिन्मात्र चिन्तामणि से इच्छा पूर्ति की विधि—आत्मा के उस सहज चैतन्यस्वभाव की दृष्टि ऐसा रत्न है कि आपकी प्रत्येक कामनाए पूरी होंगी। आप अगर करोड़पति बनना चाहेंगे तो वह भी सिद्ध हो जायेगा। आप उस रत्न को पावें तो सर्वसिद्धि हो जायेगी। कोई लोग सोचते हैं कि यह भी बहकाने की बात होगी। अरे आत्मा का अन्तरंग स्वरूप पहिचानो फिर जो चाहोगे सो सामने खड़ा हो जायेगा। अरे आवो तो निकट तुम्हारी कोई भी इच्छा यदि खाली रह जाय तो फिर प्रश्न करना। अरे भाई तो युक्ति से तो समझावो। लो युक्ति से समझ लो। तुम्हें आम खाने से काम है या गुठली गिनने से काम है? अगर गुठली गिनने से काम है तो आप जावो दूसरी जगह और आम खाने से काम है तो यहाँ रहो। तुम्हें आनन्द पाने से काम है या इस महल दुकान से काम है? अगर महल दुकान से काम है तो जावो और अगर आनन्द पाने से काम है तो बैठो। यह सहज चैतन्यस्वरूप इस प्रकार का स्वभाव वाला है कि उस मेरे स्वरूप में जब उपयोग का प्रवेश होता है तब वहाँ कोई इच्छा ही नहीं रहती। और देखो इच्छा के न रहने का नाम है इच्छा की पूर्ति।

इच्छा के अभाव का नाम इच्छा की पूर्ति—जैसे बोरी में गेहू भरते हैं तो वह बोरा खूब भर जाय इसको आप कहेंगे कि बोरा भर गया, ऐसे ही जीव में इच्छा आती है और इच्छा खूब भर दी जाय तो इसको इच्छा की पूर्ति कहते हैं क्या? आप भोजन करते हैं, पेट भर खा लेते हैं तो आप कहते हैं कि हमारी इच्छा की पूर्ति हो गयी, क्योंकि अब खाने की इच्छा नहीं रही। इच्छा के न रहने का नाम ही इच्छा की पूर्ति है। यह चैतन्यस्वभाव चिंतामणि

ऐसा विलक्षण रत्न है कि इसके पा लेने पर समस्त इच्छावों की पूर्ति हो जाती है। तो यों चिंतामणि कहलाया चित्स्वभाव का अवलोकन।

भोग के अभाव में सहज योग—भैया ! इतनी सुगम सुविधा सहज प्राप्त होने पर भी कोई न माने और चित्त समर्थन न करे कि हाँ वास्तव में यही सर्वस्व रत्न है और इसके पाने से ही हमें समस्त सुख होंगे, न कोई श्रद्धान् करे और अपने स्वरूप से चिग-चिगकर बाहर की ओर दौड़ा करे तो उसके लिए क्या किया जाय? किसी भिखारी से कोई सेठ कहे कि ऐ भिखारी ! ये 5-7 दिन की बासी रोटी तू झोले में भरे रक्खे है, इन्हें फेंक दे, मैं तुझे चार छः दिन को खाने के लिए ताजी पूड़ियां दूगा। उसे विश्वास नहीं होता है। और वह सेठ इस बात पर अड़ जाय कि तू इन रोटियों को फेंक दे तब मैं पूड़ियां दूगा। तो उस सेठ में और भिखारी में झर नहीं मिलती है। ऐसे ही यह इन्द्रियविषयों का भिखारी विषय भोगों को अपने उपयोग के झोले में भरे रक्खे है, ये कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्र जी सूरि आदि सेठ लोग इससे कह रहे हैं कि तू इन बासी रोटियों को फेंक दे, ये सब भव-भव के भोगे हुए जूठे हैं, तुझे हम बढ़िया आनन्द देंगे, लेकिन वास्तविकता इस बात पर अड़ लगाये हैं कि तू इन्हें फेंक तो दें फिर आनन्द ले। मगर यों भी मामला सेटिल हो जाय कि तुम हमें आनन्द तो दो हम फेंक देंगे तो भी बात बनेगी, किन्तु ऐसी कुछ बात होती ही नहीं है। ऐसे उस चिन्मात्र चिंतामणि रत्न के उपासक योगी पुरुषों के समस्त वचनव्यवहार रुक जाते हैं।

समृद्धिलाभ का उपाय—निश्चयमनोगुप्ति का पालन करते हैं वे निकट भव्य भविष्य में अनन्तचतुष्टयात्मक परिणमन के साथ जीवन्मुक्ति को प्राप्त होते हैं। योगीजन चार घातिया कर्मों का विनाश करके प्रथम तो शरीरसहित स्थिति में ही परमात्मा हो जाते हैं और फिर समय पाकर चार अघातिया कर्म भी दूर होते हैं। उस समय वे सिद्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं। आत्मा का हित अनाकुलता में है और सर्वथा अनाकुलता मोक्ष अवस्था में है। मोक्ष अवस्था के होने के कारण सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र है, और इस रत्नत्रय की साधना का कारण अभेदस्वरूप आत्मतत्त्व की दृष्टि है। अभेद आत्मतत्त्व की दृष्टि में सहायक भेदविज्ञान है और भेदविज्ञान में सहायक वस्तु के स्वरूप की परख है। इस कारण परमहित चाहने वाले परमजनों के वस्तुस्वरूप परिज्ञान में प्रयत्नशील होना चाहिए। उसही के प्रताप से क्रमशः इस ज्ञानस्वरूप के उपयोग की स्थिरता बढ़कर वह अवस्था मिलती है जिसमें सदा के लिए यह आत्मा द्रव्यकर्म भावकर्म, नोकर्मरहित होकर धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य की नाई विशुद्ध हो जाता है।

साधना, प्रयोजन और उपाय—विशुद्ध होने पर इस आत्मतत्त्व के अनन्तगुणों का परम विकास होता है। उन सब गुणों के विकास के प्रयोजन की बात इतनी ही है कि वे अनन्त आनन्दमय होते हैं। किसी से कहा जाय कि तुम्हें अनन्तज्ञान हो जायेगा पर आनन्द न आयेगा तो वह ऐसे अनंतज्ञान को भी पसंद न करेगा। कितनी ही और बातें हो जायें, एक अनाकुलता की बात न हो तो वे सारी ऋद्धियां, समृद्धियां इस आत्मा को उपादेय नहीं है। आत्मा का उपादेय तत्त्व सहज आनन्दमय अवस्था है। वह अवस्था कैसे प्रकट होती है? उसके उपाय को जानकर अन्त में प्राथमिक उपाय यह बनेगा कि वस्तुस्वरूप का निरन्तर परिज्ञान यथार्थ बनाये रहें। प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, अपने-अपने स्वरूप को लिए हुए है, किसी पदार्थ का अन्य पदार्थ कुछ नहीं है ऐसा जो उनका मौलिक स्वरूप है वह स्वरूप दृष्टि में रहे तो निश्चयमनोगुप्ति और निश्चयवचनगुप्ति की सिद्धि होती है। यहाँ तक निश्चयमनोगुप्ति और निश्चयवचनगुप्ति का स्वरूप कहा है। अब निश्चयशरीरगुप्ति का स्वरूप कह रहे हैं।

गाथा 70

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसाइणियत्ती वा सरीरगुत्तित्ति णिद्दिट्ठा।।70।।

निश्चयकायगुप्ति—काय की क्रियावों की निवृत्ति होना, काय का व्युत्सर्ग होना कायगुप्ति है अथवा हिंसा आदिक सर्वपापों की निवृत्ति होना सो कायगुप्ति है। जैसे जब कभी आश्चर्य वाली बात जानने में आती है तो शरीर कैसा स्तब्ध हो जाता है, कैसा दृढ़ स्थिर हो जाता है, इसमें किसी प्रकार का भाव कारण पड़ता है। यों ही कायगुप्ति की सिद्धि में आत्मा में शुद्ध भावों का होना पहिला प्रमुख कारण है। बड़े-बड़े उपसर्गों में कायगुप्ति निभाने का यत्न होता है, तब कठिनता से कायगुप्ति सिद्ध होती है। जैसे एक साधु ने स्वयं बताया था कि मुझे कायगुप्ति यों नहीं हुई है कि मृतकासन से ध्यान करते हुए की स्थिति में किसी मंत्रसाधक ने हमारी इस खोपड़ी को मरी हुई खोपड़ी समझकर इस पर खिचड़ी पकायी थी। बहुत देर तक मैं सहता रहा, पर बाद में मेरा शरीर हिल गया। तो ऐसा कठिन जो कायगोपन है वह कायगोपन आत्मा में ज्ञानस्वभाव की दृष्टि की स्थिरता बिना होना कठिन है। जान बूझकर शरीर को कोई न हिलाये डुलाये, स्थिर रखे यह अस्थायी काम है और ऐसा करने पर भी कायगुप्ति का जो प्रयोजन है, निर्विकल्प तत्त्व की साधना है उससे तो वह दूर है। किन्तु जब अंतरंग में भाव विशुद्धि हो, इस निष्क्रिय चित्स्वभाव की उपासना हो वहाँ जो कायगुप्ति बनती है वह मूल में हित का प्रसार करती हुई दृढ़ता से बनती है।

कायगुप्ति का विवरण—सभी लोगों के प्राय: कायसम्बन्धी बहुत सी क्रियाए होती हैं। उठना बैठना हिलना संकेत करना अनेक कार्य होते हैं। खोटे प्रणिधान वाली और भले प्रणिधान वाली क्रियाए होती है। उन सबकी निवृत्ति होना इस ही का नाम है कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग मायने त्याग के हैं। शरीर का त्याग क्या है कि क्रियावों की निवृत्ति होना और शरीर का लक्ष्य भी न रखना, मानो शरीर है ही नहीं। शरीर का कुछ ख्याल भी न रखना, केवल एक ज्ञानस्वरूप में अपना उपयोग रखे इसे परमार्थ से कायोत्सर्ग कहते हैं। कायोत्सर्ग जहां है वहाँ ही कायगुप्ति है। अथवा 5 प्रकार के स्थावर और त्रस, इन 6 काय के जीवों की हिंसा का सर्वथा त्याग होना सो कायगुप्ति है। यह आत्मा इस कायगुप्ति से सर्वथा भिन्न है। व्यवहारदृष्टि में यह आत्मा बंधन को प्राप्त है, परस्वरूप दृष्टि से पूर्ण बंधनरहित है। किन्तु देखो हाय कितनी प्रकार के जीव यहाँ नजर आ रहे हैं? कैसी-कैसी कुयोनियां, कैसे-कैसे खोटे कुल नजर आ रहे हैं? ये सब काय की ओर दृष्टि रखने के फल हैं। अपने आत्मा की भावना से चिगकर शरीर में आत्मदृष्टि करने के फल हैं। जो महाभाग इस शरीर को अपने से भिन्न आत्मदृष्टि करने के फल हैं। जो महाभाग इस शरीर को अपने से भिन्न पहिचानकर इसके ख्याल और वासना का परित्याग करता है, अपने आपमें स्थिर होता है, आत्मस्वभाव में ही रुचि बढ़ाता है उस पुरुष के कायगुप्ति होती है। यह आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है, इसकी ओर प्रवृत्ति न करे, काय की ओर दृष्टि दे, प्रवृत्ति करे तो उसका फल यह है कि संसार के इन भवों में ही यह प्राणी भ्रमण करता रहता है।

आत्मा और काय में अन्तर—भैया ! कितना अन्तर है इस आत्मा में और काय में? आत्मा तो जाननहार वस्तु है और यह काय जड़ है। आत्मा तो भावात्मक मूर्त पदार्थ है और यह शरीरग्रहण विसर्गात्मक अमूर्त पदार्थ है। आत्मा तो ज्ञान ज्योतिर्मय होने से पवित्र है, सारे विश्व का ज्ञाता है, ज्ञानानन्दस्वरूप है और यह काय हाड़ मांस रुधिर आदि

अपवित्र वस्तुवों से निर्मित है। यह आत्मतत्त्व आनन्दमय है, आनन्द का कारण है और यह शरीर स्वयं तो सुख दु:ख का अनुभव कर ही नहीं सकता क्योंकि यह अचेतन है, लेकिन यह दूसरों के लिए दु:ख का ही कारण होता है। किसी बात में यह सुख भी मान ले तो यह उसकी कल्पना की बात है, आनन्द है ऐसी बात नहीं है। इस शरीर के कारण भूख का कष्ट, प्यास का कष्ट, ठंडी गर्मी का कष्ट तथा और भी ऐसे व्यर्थ के कष्ट हैं जिनका कोई सम्बन्ध नहीं है और बना डाला है। जैसे अपमान का दु:ख।

अपमान के क्लेश में शरीर की कारणता—शरीर न हो तो यह अमूर्त आत्मा किस बात का अपमान माने? ये व्यवहारीजन इस मुझ अमूर्त आत्मतत्त्व को लक्ष्य में लेकर गाली गलौज नहीं देते, किन्तु इस मूर्तिक शरीर को ही ध्यान में रखकर यह ही फलाने हैं ऐसा ध्यान देकर गालियां देते हैं, अपमान करते हैं। तब अपमान भी शरीर के कारण ही तो हुआ और भी अनेक मानसिक दु:ख होते हैं, जैसे कुटुम्ब की चिंता, वैभव की चिंता ये सब विडम्बनाए भी इस शरीर के सम्बन्ध के कारण होती हैं। शरीररहित अमूर्त केवल ज्ञानमात्र इस आत्मा को क्या विडम्बना है? कहां अपमान हैं? जितने उपद्रव हैं, विडम्बनाए हैं ये इस शरीर के कारण हैं किन्तु ये मोहीजन दु:ख के वास्तविक कारणों से इतना प्रेम करते है कि उसे ही अपना सर्वस्व मान लेते हैं।

आत्मस्वभावावलोकनवल—साधु संत जन किस बात पर शरीर से उपेक्षित रहते हैं? वह है बात एक आत्मस्वभाव के दर्शन की। जिससे इस शरीर से परम उपेक्षा हो जाती है। समाधिमरण में समाधि धारण करने वाले तीन प्रकार के पुरुष होते हैं। एक तो वे जो इस शरीर की दूसरों से सेवा नहीं कराते। उठना बैठना कुछ भी करना वे स्वयं ही करते हैं। एक तो ऐसे साधक होते हैं। एक ऐसे साधक होते हैं कि दूसरों से योग्य धर्मानुकूल वैयावृत्ति भी करा लेते हैं और एक ऐसे साधक होते हैं कि न शरीर की खुद सेवा करते हैं और न किसी दूसरे से करवाते हैं। एक मोटे लक्कड़ की भांति पड़े रहते हैं। इतनी उत्कृष्ट साधना किसके बल पर होती है?वह बल है आत्मतत्त्व के अनुभव का बल। इस शरीर से कुछ प्रयोजन ही नहीं है। ऐसी स्थिति साधुवों के योग्य होती है और साधुवों के उपासक गृहस्थों के भी ऐसी चाह रहा करती है। ऐसे अहितमय शरीर से परम उपेक्षा धारण करके स्थिर रहे, इसे कायगुप्ति कहते हैं।

योगीश्वरों की अन्तर्वृत्ति—परम संयम के धारी योगीश्वर अपने ही वास्तविक शरीर को अपने वास्तविक शरीर के साथ जोड़ते हैं अर्थात् ज्ञानमय शरीर को ज्ञान में ही जोड़ते हैं, उनके निश्चयकायगुप्ति होती है। यद्यपि ज्ञान को शरीर की उपमा देना कोई भली बात नहीं है लेकिन शरीर का परिचय रखने वाले जीवों का प्रतिबोधन करने के लिए आत्मा के स्वरूप को शरीर की उपमा दी जाया करती है। शरीर का वाचक जो बौडी शब्द है वह शब्द बहुत व्यापक है, उसका प्रयोजन केवल शरीर से नहीं है किन्तु जिस स्वरूप से वस्तु का निर्माण होता है उस स्वरूप का नाम बौडी है। ऐसी ही भावभासना रखकर यदि यह कहा जाय कि ज्ञान ही जिसका शरीर है तो उस शरीर का अर्थ स्वरूप लेना अथवा एक शब्द आता है कलेवर। वह शब्द शरीर और काय से भी व्यापक शब्द है। चाहे यों कहो कि बौडी का यदि कोई अन्वयार्थकपर्याय शब्द हो सकता है तो वह शब्द है कलेवर। जैसे लोग कहते हैं कि इसका कलेवर क्या है? इस मामले की जान क्या है? यों ही ज्ञान भी एक शरीर है परमार्थत:। उसमें ही अपने ज्ञान को जोड़ो, ज्ञानमात्र ही अपनी काय का उत्सर्ग कहा जाता है।

निश्चय कायगुप्ति—कायगुप्ति अन्तरात्मा की अपरिस्पन्द मूर्ति हो जाती है। वह योगरहित,, हलन चलन रहित हो जाता है। यहाँ उत्कृष्ट अयोग की बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु यहाँ वहाँ हिलना डुलना रूप जो स्थूल योग है इन सब परिस्पंदों से रहित उसकी मूर्ति है ऐसी स्थिति का नाम है निश्चयकायगुप्ति। कायोत्सर्ग कहो अथवा कायगुप्ति कहो दोनों का भाव प्राय: एक है। जो पुरुष शरीर की समस्त क्रियावों का परिहार कर देता है और शरीर की क्रियावों के कारणभूत अथवा भवभ्रमण के कारणभूत इन वैभवों का भी परिहार कर देता है उस पुरुष के निश्चयकायगुप्ति होती है। उसकी स्थिति अपने स्वरूप में स्थिर रहने की हो जाती है। जो अन्तरात्मा अपने आपमें उत्पन्न होने वाले रागादिक भावों से पृथक् अथवा रागादिक भावों से नीचे तह में अन्तर में अपने आपका अनुभव करते हैं, रागादिक भावों को नहीं छूते हैं अपने उपयोग से ऐसे महात्मावों के काय का उत्सर्ग कहा जाता है।

काय की परम उपेक्षारूप गुप्ति—भैया ! काय के त्याग का नाम कायोत्सर्ग नहीं, काय तो लगा है, इसे कहां छोड़ा जाय? यदि कोई आवेश में आकर इस शरीर का त्याग कर दे अर्थात् फांसी लगा ले, मर जाय या श्वास रोक ले, यों सोचकर कि इन समस्त पापों की जड़ यह शरीर है इसलिए शरीर को हटावो, तो उसकी स्थिति तो और भयंकर हो जायेगी, उसका असमय में मरण हुआ संक्लेश सहित मरण हुआ, अर्थात् अपने संयम पर अधिकार न पाकर अविवेक दशा में मरण हुआ तो वह आगे किसी कुयोनि में उत्पन्न होगा। वह क्या लाभ वहाँ उठा लेगा? इसलिए काय का परिहार नहीं करना है। किन्तु इस काय से परम उपेक्षा ग्रहण करना है। यह काय ऐसी पृथक् जचने लगे जैसी कि बाह्य वस्तुवें जँचती हैं।

कायगुप्ति का प्रयोजन निश्चयचारित्र—सुकुमार मुनीश्वर के शरीर को स्याल नोच-नोचकर खाते थे पर वे जरा भी विचलित नहीं हुए। क्या वे उन स्यालों को भगा नहीं सकते थे? जरासा खांस देने पर भाग जाया करते हैं, लेकिन उन्होंने अपने आत्मा के उत्तम ध्यान से च्युत होना उत्तम नहीं समझा। यह काय जाय तो जाय इससे इस आत्मा का कुछ भी बिगाड़ नहीं है, किन्तु यह आत्मा कुछ भी नहीं है, किन्तु यह आत्मा अपने स्वरूप से चिगकर किन्हीं बाह्य विकल्पों में उलझ जाय तो अनेक जन्मों में भटकना पड़ेगा, यह कितना बड़ा बिगाड़ है। उन मुनीश्वर ने इस काय से अपने को भिन्न जाना और अपने आपकी रक्षा की। सुकौशल मुनिराज का चारित्र देखो, गजकुमार मुनि का चारित्र देखो। सबको विदित ही है कि उनके सिर पर उनके ही स्वसुर ने अँगीठी जलायी थी क्योंकि विवाह होने के दो-एक दिन बाद ही वे साधु हो गये, किन्तु उनके लिए तो जैसे बाहर अँगीठी जल रही है वैसे ही यह सर पर अँगीठी जल रही है। शरीर को उन्होंने अपनाया नहीं, ऐसी परम उपेक्षा धारण करने वाले साधु संतों के निश्चयकायगुप्ति होती है। मन, वचन, काय में सबसे आसान और परमार्थ में सुगमता कर ली जाने वाली गुप्ति कायगुप्ति है। लेकिन जब तक भावों की पूर्ण निर्मलता नहीं बनती तब तक कायगुप्ति का पूर्णरूप आ नहीं सकता है। इससे कायक्रियावों के कारणभूत विभावों का भी त्याग करें। जो व्यग्रतारहित आत्मस्वरूप में स्थित होता है उसके ही निश्चयकायगुप्ति कही गई है।

गुप्तिसाधना में मूलभावना—जितने भी अवगुण हैं उनके विजय का उपाय उन अवगुणों के विपरीत गुणों पर दृष्टि करना है। जैसे इन्द्रिय विजय में जड़ द्रव्येन्द्रिय का विजय चैतन्यस्वरूप की दृष्टि से होता है। मैं चैतन्यस्वरूप हू, ये द्रव्येन्द्रिय अचेतन हैं। खण्डज्ञानरूप भावेन्द्रिय का विजय अखण्डज्ञानस्वरूप निज की प्रवृत्ति से होता है और संगरूप विषयों का विजय असंग आकिञ्चन निज अंतस्तत्त्व के अवलोकन से होता है, यों कायगुप्ति का विजय यह ज्ञानी संत

इस भावना में कर रहा है कि मेरा तो अपरिस्पंद स्वरूप है, योगरहित स्वरूप है, निष्क्रिय धर्मद्रव्य की तरह जहां के तहां स्पंदरहित होकर अवस्थित रहना ही मेरा स्वरूप है। जैसे मेरे स्वरूप में ज्ञान दर्शन आनन्द आदि गुण हैं तैसे मैं परिस्पंदरहित निष्क्रिय ज्ञानमात्र हू। ऐसे इस योगरहित अंतस्तत्त्व के योग कहां से होगा? हलन चलन ही नहीं होता। यों भावना रखने वाले साधु के कायगुप्ति होती है और कायगुप्ति ही क्या तीनों गुप्तियां होती हैं।

योगरहित व योगसाधनरहित आत्मतत्त्व की भावना—ये समस्त योग मूल में तीन प्रकार के हैं—मनोयोग, वचनयोग, काययोग और इसके उत्तरभेद 15 प्रकार के हैं, चार मनोयोग हैं, सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग, अनुभय मनोयोग। वचनयोग हैं—सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचनयोग, अनुभयवचनयोग और औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र काययोग, वैक्रियक काययोग, वैक्रियक मिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहारक मिश्रकाययोग और कामार्णकाययोग—ये 7 प्रकार के काययोग हैं। ये योग होते क्यों हैं? उन योगों की उत्पत्ति होने में कौनसा कर्मोदय कारण है? इस पर विचार करें तो यद्यपि सामान्यतया प्राय: सभी कर्मोदय सहायक होते हैं, फिर भी सामान्यतया योग के होने का कारण नामकर्म का उदय है। मन और काय ये दोनों शरीर के अंग हैं। मन से प्रयोजन द्रव्यकर्म का है और वचन सुस्वर अथवा दुस्वर नामकर्म के उदय से होते हैं। यों शरीर नामकर्म के उदय से काययोग हुआ, मनोयोग हुआ और स्वर नामकर्म के उदय से यह वचनयोग चलता है, इसके साथ-साथ विहायोगगति है, नाना प्रक्रियाए हैं, इनके उदय का निमित्त पाकर ये योग हो जाया करते हैं। योग होना मेरा स्वभाव नहीं है, मैं अयोग हू ऐसे अपने स्वभाव की भावना के बल से उनके गुप्ति में बहुत दृढ़ता आती है।

अष्टप्रवचन मातृका का प्रसाधन—यहाँ प्रकरण में तीन गुप्ति हैं, इससे पहिले 5 समितियों का वर्णन चला था। 5 समिति, 3 गुप्ति मिलकर अष्टप्रवचन मातृका कहलाती हैं। जैसे जीव की रक्षा में पुत्रादिक की रक्षा में माता का निश्छल अवलम्बन होता है इसी प्रकार संसारसंकटों से बचकर आनन्द पद में निवास करने में इन अष्टप्रवचन मातृकावों का बड़ा हस्तावलम्बन है। जो जीव न भी विशेष ज्ञानी हो, किन्तु प्रवचन मातृका का यथार्थ ज्ञान और आचरण करने वाला हो तो उसमें भी वही बल प्रकट होता है जिस बल के प्रकट होने से हमें समस्त द्वादशांग का ज्ञान हो जाता है और अंत में केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाता है।

व्यवहार का प्रयोजन—यह व्यवहारचारित्र का प्रकरण है, किन्तु निश्चय की अपेक्षा छोड़कर कोरा व्यवहार करने से उस व्यवहारी को आत्मसंतोष न होगा, भले ही कल्पनाजन्य संतुष्टि हो जाय, पर परमार्थत: आत्मसंतोष न होगा और कर्मबंधन भी नहीं कट सकता। व्यवहार निश्चय की पात्रता बनाने के लिए हुआ करता है। व्यवहार ही सर्वस्व हो जाय, धर्म हो जाय ऐसा नहीं है। व्यवहार एक संकेत है, बाह्य प्रवर्तन है। लक्ष्य तो निश्चय का है। जैसे मां जब बच्चे को गोद में लेकर छत पर खड़ी होकर चंदा मामा को दिखाती है तो उस चंदा मामा को दिखाते हुए में वह क्या प्रयोग करती है? अंगुली से दिखाती है, बच्चा भी अंगुली को नहीं देखता है किन्तु अंगुली के रास्ते से उस चन्द्रमा को देखने का यत्न करता है। यदि वह अंगुली को ही देखता रहे तो चन्द्र का क्या पता पड़ सकता है? ऐसे ही जितने व्यवहार ज्ञान हैं, व्यवहार आचरण हैं इन सबका लक्ष्य कोई निश्चय हुआ करता है। कोई उस संकेत को ही पकड़कर रह जाय तो उसे निश्चनय का अनुभव नहीं जग सकता है।

व्यवहार के आलम्बन की पद्धति—कई वैद्यों की टोली किसी पहाड़ पर चली बूटिया तलाशने को। उनमें से एक प्रमुख है, वह एक सवा हाथ की लाठी लेकर लोगों को समझाता है—देखो एक जड़ी यह है, एक जड़ी यह है, उस समय उस जैसा मूढ़ कोई न होगा जो लाठी को ही ताकता रहे। वह लाठी जहां-जहां इशारा करती है उस-उस लक्ष्य को लोग देखते हैं, फिर हितमार्ग में भी सीधीसी बात है। व्यवहार में भी विवेकी लोग लक्ष्य छोड़कर व्यवहार पकड़ने की मूर्खता नहीं करते हैं, फिर व्यवहार वर्णन चलता है तो वहाँ व्यवहार को ही पकड़कर रह जायें ऐसा क्यों हो जाता है?यह सब मोह का प्रताप है। जैसे मां के द्वारा दिखाये जाने वाले चंदा को देखते समय यदि अंगुली का अवलम्बन छोड़ दे तो भी काम नहीं बनता है, अथवा जैसे यह वैद्य अपनी लाठी का इशारा करके दिखाता है और कोई लाठी का भी अवलम्बन अगर छोड़ दे तो वह तो पहिचान नहीं कर सकता, यदि उन दोनों व्यवहारों का आलम्बन रखकर भी व्यवहार को छोड़कर आगे बढ़ने की प्रकृति उसमें पड़ी हुई है। ऐसे ही व्यवहार का आलम्बन छोड़ दे तो काम नहीं बन सकता है। व्यवहार का आलम्बन करता भी है ज्ञानी, फिर भी व्यवहार का आलम्बन करता हुआ भी व्यवहार से आगे के लिए उन्मुख रहा करता है।

व्यवहार में रहकर भी व्यवहार से परे की दृष्टि—ऐसे साधनों के समय जिनका व्यवहार बढ़ जाता है जान बूझकर डटकर दृढ़ पकड़ना होता है ऐसी इसमें असहज वृत्ति तो व्यवहार को ही सर्वस्व मानने पर होती हे, किन्तु जो निश्चयपथ का अनुगमन करना चाहते हैं उनको व्यवहार का आलम्बन आगे बढ़ने के लिए होता है। जैसे नीचे से ऊपर यहाँ लोग आते हैं, किन्तु इस जीने में कितनी सीढ़ियां हैं शायद किसी को मालूम नहीं होगा। आते हो रोज-रोज लेकिन किसी को पता हो तो बतावो। शायद किसी को न विदित होगा। आप सीढ़ियों से चढ़कर उनका आलम्बन लेकर यहाँ तक आते हैं पर सीढ़ियों के आलम्बन के समय भी क्या आपने किसी सीढ़ी से प्यार किया? क्या किसी ने कभी किसी सीढ़ी से कहा कि रे सीढ़ी ! तू बड़ी अच्छी है, हम तुम्हें नहीं छोड़ेंगे? अरे न छोड़ोगे तो पकड़े खड़े रहो। उन सीढ़ियों का ऊपर तक आने में आलम्बन लिया जाता है। उनके आलम्बन बिना हम आप ऊपर चढ़ नहीं पाते हैं। फिर भी उन सीढ़ियों से आंतरिक प्रेम किसी ने नहीं किया। जिस सीढ़ी पर पैर रख लिया उस सीढ़ी को आंखों से देखते भी नहीं, आगे की सीढ़ी को देखते हैं। ऐसे ही जो निश्चय तत्त्व के अभ्यासीजन हैं जिन्हें सुविदित है भली प्रकार की ऊपरी स्थान तो वह है जहां हम लोग कई बार जाते हैं, नि:शंक होकर सीढ़ियों का आलम्बन करके उसका लक्ष्य रखकर ऊपर आ जाते हैं। यों ही निश्चयतत्त्व के अभ्यासी, अंतस्तत्त्व के रुचिया ज्ञानी पुरुष मार्ग में आये हुए व्यवहार का आलम्बन करते हैं। उस आलम्बन में भी निश्चय की ओर उन्मुखता होती है और निश्चय भावना में प्रवेश हो जाता है। इन अष्टप्रवचनमालिकावों का उन साधुवों के मार्मिक ज्ञान बना रहता है।

कल्याण का मूल भेदविज्ञान—एक साधु था। उन्होंने एक व्यक्ति को एक बात पढ़ा दी थी—मा तुष, मा रुष। इसका अर्थ है किसी भी पदार्थ में न संतोष करना और न रोष करना। वह न समझा ज्यादा, पर उसे याद कर लिया। जल्दी-जल्दी याद करते में उसकी तुषमाष ध्यान में रह गया माष के मायने हैं उड़द की दाल। इस 'माष'शब्द में मूर्धन्य 'ष'है। बहुत दिन के बाद जब वह व्यक्ति सड़क से जा रहा था तो एक महिला सड़क के किनारे बैठी हुई उड़द की दाल के छिलके निकाल रही थी। उसे बड़ा बनाना होगा। जब उसने देखा तो ज्ञान हो गया। ओह माष तुष, भिन्न-भिन्न जैसे यह उड़द का छिलका उड़द से बिल्कुल भिन्न है देखो रूप भी अलग है, यह छिलका काला है और दाल सफेद है

तथा अलग भी हो रही है। इस ही तरह यह मैं आत्मा इस शरीर छिलके से अत्यन्त भिन्न हू—ऐसा वहाँ प्रतिबोध हुआ। जिसे समझ हो उसके लिए थोड़ी भी बात बहुत हैं और जिसे समझ नहीं है उसके लिए बहुत भी बकवाद व्यर्थ है। वक्ता हो अथवा श्रोता हो सबका लक्ष्य एक होना चाहिए कि मेरा कल्याण कैसे हो?

इस जगत् की असारता—यह मायामयी दुनिया जिसमें ये होने वाले सारे व्यवहार स्वप्नवत् असार हैं, यहाँ होने वाले इन व्यवहारों से मुझ आत्मा का कुछ भी पूरा न पड़ेगा। क्या है, आज मनुष्य है, पुण्योदय है, वैभव समागम है, कुटुम्ब का योग है, ये सारी बातें है और कल्पना करके खुश भी होते जा रहे हैं, किन्तु क्या यह सदा रहेगा और जब तक साथ है तब तक भी सच तो बतावो इसके कारण तुम निरन्तर शांत और सुखी रहते हो? सबकी अपनी-अपनी बातें न्यारी-न्यारी हैं, किसी को किसी तरह का क्लेश हैं, किसी को किसी तरह का क्लेश है, किसी को किसी तरह का विशाद है। इन समागमों में समागम के काल में भी आनन्द नहीं है और जब समागम बिछुड़ेगा तब भी आनन्द नहीं है, लेकिन मोही जीव इन समागमों को ही सर्व कुछ सर्वस्व जानता है, ओह मुझ जैसा पुण्यवान् कौन है? इतने मकान बना लिये हैं, वैभव बढ़ा लिया है, इतना कुटुम्ब बन गया है। मुझ समान पुण्योदय वाला कौन है? अरे यह नहीं जानते कि यों सब स्वप्नवत् हैं, असार हैं। बल्कि कल्पनाए करके अपना बिगाड़ किए जा रहे हैं।

आत्मीय वैभव के अवलोकन का आनन्द—अपने जो महापुरुष हुए जिनकी हम संतान हैं, उन महापुरुषों ने क्या किया था? उन्होंने धन सम्पदा में ही मरण नहीं किया था। कोई तो कुमार ब्रह्मचारी ही रहकर संन्यस्त हो गये थे और कोई कुछ थोड़ा घर में फंसकर अंत में त्याग कर साधु हो गये थे। उन्हें आनन्द मिला निर्जन एकान्त जंगल में, जहां दूसरा कोइ्र बात करने को भी नहीं था। खुद ही खुद से बात करते जाते थे और आनन्दमय होते जाते थे। उस आत्मीय वैभव के अवलोकन में जो आनन्द प्रकट होता है वह आनन्द किसी भी विषय के प्रसंग में नहीं है। ऐसा जिसके दृढ़तम ज्ञान है ऐसा ही पुरुष इस आरम्भ परिग्रह का त्याग करके सत्य शाश्वत आनन्द का अनुभव किया करता है।

जैन प्रयोगों की सारता व निष्पक्षता—भैया ! सारे रूप बार-बार रक्खे जा सकते हैं किन्तु यह साधुता रूप बार-बार नहीं रखा जा सकता है। एक बार रखा फिर उसका त्याग नहीं किया जा सकता क्योंकि साधुता के मिलने पर उसे ऐसा अतुल आनन्द प्राप्त होता है कि वह फिर अन्यत्र कहीं जा ही नहीं सकता। जैसे कोई एक बार ही जैन मूर्तियों की मुद्रा का चाव से दर्शन कर ले अथवा जैन शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन कर ले अथवा जैन गुरुवों का सहवास कर ले तो फिर वह वहीं का वहीं रह जायेगा, हट नहीं सकता। वहाँ से क्यों हटे? आखिर चाहिए तो आनन्द ही ना। जब आनन्द मिल गया फिर हटने की आवश्यकता क्या है? इसी कारण जो इस वीतराग धर्म के विद्वेषी होते हैं वे यह प्रचार कर डालते हैं कि चाहे मर जावो पर जैनदर्शन के निकट मत पहुंचों। इस पर विवेकी दृढ़तम उत्तर देते हैं कि क्यों न पहुंचे, जब कि जैन दर्शन खुले आम यह घोषणा करता है कि तुम सर्व दर्शनों की बात जानो, आत्मा की और अनात्मा की बात जानो। अरे तुम आत्महितैषी हो, तुम जहां हित जंचे वहाँ रम जावो। यों ही एक बार गृहस्थी का परित्याग करके साधुता अङ्गीकार की जाय तो फिर वह दूसरा रूप नहीं बदल सकता।

ब्रह्मगुलाल की साधुता—ब्रह्मगुलाल मुनि जो नाना भेष रखा करते थे उनसे एक बार किसी ब्रह्मगुलाल के द्वेषी ने ईर्ष्यावश राजा को यों समझाया कि महाराज जरा इससे सिंह का रूप तो रखावो। राजा ने कहा कि तुम कल

सिंह का रूप रखकर आना। तो ब्रह्मगुलाल बोला, महाराज सिंह का रूप तो रख लूगा, पर कहीं खून किसी का हो जाय तो माफ करना। हाँ-हाँ माफ। वह आया सिंह का रूप रखकर। वैसा ही शौर्य वैसा ही बल रखकर वह आया तो राजा के पुत्र ने उसे कुछ व्यंगात्मक शब्द कहे जैसे आ गया कुत्ता आदि तो उसके गुस्सा आया, जोश आया और पंजा मार दिया, वह राजपुत्र मर गया। सभा में हाहाकार मच गया, पर क्या किया जाय? राजा वचनबद्ध था। फिर उसी विद्वेषी ने राजा को सिखाया कि महाराज ! इससे मुनि का रूप दिखावो। राजा ने कहा कि हे ब्रह्मगुलाल ! तुम मुनि का रूप धरकर दिखावो, तो ब्रह्मगुलाल बोला कि इस रूप के तैयार करने में हमें 6 महीने लगेंगे। उसने 6 माह तक खूब ध्यान, मनन चिंतवन किया और 6 माह बाद दरबार के सामने से मुनि बनकर निकल गया। लोगों ने बहुत समझाया कि लौट आवो क्योंकि दरबार में आपका जैसा व्यक्ति मन को हरने वाला और कोई न मिलेगा तो ब्रह्मगुलाल मुनि ने कहा कि यह रूप एक बार रखकर फिर मिटाया नहीं जा सकता। इस व्यवहारचारित्र में जो लक्ष्य निश्चयचारित्र का रखता है वह साधुपुरुष धन्य हैं और ऐसे साधुपुरुषों की उपासना करने वाले श्रावकजन भी सराहनीय हैं।

अन्तस्तत्त्व की साधना का फल—परमात्मतत्त्व के दर्शन में निरन्तर मग्न रहने की धुन रखने वाला यह साधु पुरुष चिंतन कर रहा है कि मेरा स्वरूप तो योगरहित है, मैं अपरिस्पन्द हू और यह शरीर का परिस्पंद शरीर का विकार है, मैं अविनश्वर स्थिर आत्मतत्त्व को प्राप्त होता हू और शरीर के विकार को छोड़ता हू, मन, वचन, काय के विकार का त्याग करता हू—इस प्रकार जो मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति में पूर्ण निष्णात हो गये हैं, निष्पन्न योगी हो गये हैं ऐसे पुरुष निज ज्ञायकस्वरूप के दर्शन से उत्पन्न होने वाला जो प्रसाद है उसके प्रताप से अरहंत अवस्था को प्राप्त होते हैं। उसही अवस्था के सम्बन्ध में कुन्दकुन्दाचार्यदेव अब व्याख्यान कर रहे हैं।

गाथा 71

घणघाइकम्मरहिया केवलणाणाइपरमगुणसहिया।
चोत्तिसअदिसअजुत्ता अरिहंता एरिसा होंति।।71।।

निर्दोष देव—जो घनघाति कर्म से रहित है, केवल ज्ञानादिक परम गुणों से सहित है, 34 अतिशय करके संयुक्त है ऐसा परम आत्मा अरहंत कहलाता है। इस गाथा में भगवान् अरहंत परमेश्वर का स्वरूप बताया गया है। यह अरहंतस्वरूप, भगवतस्वरूप, परमेश्वरस्वरूप है। जहां गुणों का परम विकास है और सर्वदोषों का अभाव है, ऐसा केवल निजस्वरूपमय आत्मा परमात्मा अरहंत कहलाता है, कब तक? जब तक कि वह शरीरसहित है। अपनी साधना के प्रताप से शरीरसहित अवस्था में ही परमात्मा हो जाता है, अर्थात् ज्ञानविकास द्वारा तीन लोक, तीन काल के समस्त तत्त्वों का ज्ञाता हो जाता है। उसके चारघातिया कर्मों का अभाव है।

मोहनीय के क्षय का क्रम—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इनमें से सबसे पहिले मोहनीय कर्म का विनाश होता है। मोहनीय कर्मों में दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय इनमें 3 दर्शन मोहनीय और 25 चारित्रमोहनीय इन 28 प्रकृतियों में दर्शन मोहनीय के तीन और चारित्रमोहनीय के आदिम चार—इन 7 प्रकृतियों का जब क्षय हो

जाता है तो क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट होता है। इन 7 प्रकृतियों में दर्शनमोहनीय की 3 प्रकृतियां तो सम्यक्त्वघातक हैं ही, किन्तु अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ इनमें दो स्वभाव पड़े हैं—चारित्र का भी विनाश करें और सम्यक्त्व का भी विनाश करें, यों 7 प्रकृतियों का विनाश पहिले होता है। इसके पश्चात् श्रेणी पर पहुंचने पर अर्थात् शुक्ल ध्यान की अवस्था में संज्वलन लोभ को छोड़कर 21 प्रकृतियों से 20 प्रकृतियों का विनाश हो जाता है और फिर संज्वलन लोभ का विनाश होता है। दसवें गुणस्थान के अन्त में दसवें गुणस्थान तक उस मोहनीय का सर्वापहारी लोप हो जाता है।

मोहनीय के क्षय के पश्चात् शेष तीन घातियाकर्मों का युगपत् क्षय—क्षपकश्रेणी में बढ़ते हुए जीव दसवें के बाद एकदम 12 वें गुणस्थान में पहुंचते है। कहीं यह नहीं जानना कि 10 वें के बाद छलांग मारकर 12 वें में पहुंचता है। 11 वें को छोड़कर यह गुणस्थान भींत के ईंट की तरह बधे हुए नहीं हैं। जो परिणाम हो उनका ही नाम गुणस्थान है। 10 वें गुणस्थान के परिणाम के बाद एकदम मोहरहित अवस्था हो जाती है। इसका नाम है बारहवां गुणस्थान। अब यह साधु परमेष्ठी 12 वें गुणस्थान के अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय को एक साथ क्षय कर देता है। यों 12 वें गुणस्थान के अन्त में चारघातिया कर्मों का अभाव हो जाता है। 12 वें गुणस्थान में इन कर्मों का विनाश होता है, इसका अर्थ यह है कि 12 वें के अन्त तक तो वह है और 13 वें के प्रारम्भ में वह नदारत है। यों घनघातिया कर्मों से रहित यह सयोगकेवली जिन हो जाता है।

सयोगकेवली का आकर्षण—इन सयोगकेवली भगवान् को भगवान् के रूप में निरखा जाता है। साधु के 5 भेद किये हैं पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ व स्नातक। ये भगवान् सयोगकेवली हमारे स्नातक साधु हैं। नहा चुके हुए साधु, धुल चुके साधु। अब कोई कर्मफल इन पर नहीं रहा। अरहद्भक्ति में बड़ी विशेषतायें हैं क्योंकि अरहंतदेव में साकारता निराकारता का समन्वय है, सगुण और निर्गुण का समन्वय है। भगवान् हमारे कुटुम्बी हैं और मुक्तजीवों के भी कुटुम्बी हैं, ऐसा समन्वय है। इस कारण अरहंत भगवान् की बहुत बड़ी विशेषताए हो जाती हैं। दूसरे के लड़के में कोई कला हो तो उसको देखकर अन्तरङ्ग के रोम उतने नहीं खिल पाते हैं जितने कि अपने बच्चे में कोई कला आ जाने पर खिल जाते हैं। अरहंत भगवान् यही तो रहते हैं। आज यहाँ नहीं हैं न सही, पर वे इस ही ढाई द्वीप में तो रहा करते हैं। मनुष्यों के बीच ही तो रहा करते हैं। मनुष्य उनको नजर भर तृप्त होकर देखा तो करते हैं। जिनकी वीतरागता के प्रताप से सोलह स्वर्ग करीब-करीब खाली हो जाते हैं, और उनके देव समवशरण में जाया करते हैं। यह किसका आकर्षण है? यह निर्दोषता का आकर्षण है। निर्दोष व्यक्ति सबका बंधु है, सदोष व्यक्ति भाई का भी बंधु नहीं है। ये अरहंत परमेश्वर भावकर्मों से अत्यन्त रहित हो गये, अकलुष हैं इसलिए स्वर्ग भी खाली हो जाते हैं और स्वर्गवासी देव प्रभु के चरणों में आकर अपना जन्म सफल करते हैं।

घनघातिया कर्म और उनके विनाश करने का उपाय—ये घातिया कर्म हैं घन मेघ की तरह। जैसे मेघ के कारण सूर्य छिप जाता है, छिप जाने पर कुछ प्रकाश तो रहता ही है। ऐसे ही इन ज्ञानावरण कर्मों के कारण निमित्त पाकर समझो यह ज्ञानसूर्य छिप गया है, छिप जाने पर भी ज्ञान का फिर भी कुछ प्रकाश रहता है। कोई जीव ज्ञान के प्रकाश से शून्य नहीं है, सूना नहीं है। फिर भी उस ज्ञान को आवृत करने वाले कर्मों का जब अभाव होता है तो ऐसा ज्ञानप्रकाश विस्तृत होता है कि तीन लोक तीन काल के समस्त पदार्थ ज्ञात हो जाते हैं। क्या कहा जाय? इन कर्मों के

हटने की बाट जोही जाय क्या, क्योंकि कर्मों के हटने का निमित्त पाकर ज्ञानविकास होता है। जैसे कर्मों के अभाव का निमित्त पाकर ज्ञानविकास होता है ऐसे ही आत्मा की शुद्धदृष्टि का निमित्त पाकर ये कर्म भी हट जाया करते हैं। अपना जोर अपने पर चल सकता है। कभी अपने कुटुम्बी से किसी दूसरे से लड़ाई हो जाय तो वहाँ कुटुम्ब का प्रधान पुरुष अपने कुटुम्बी पुरुष पर जोर डालता है तभी उसके कार्य की सिद्धि है। दूसरे पर जोर डालने से विवाद बढ़ता है और फिर दूसरे पर कोई जोर चला भी नहीं सकता, यों ही हमारे कुटुम्बी हैं हमारे ज्ञानादिक गुण और पर हैं ये कर्म। इन कर्मों पर हम क्या जोर चला सकेंगे? हम अपने ही स्वरूप पर जोर चला सकते हैं। पर व्यथावों से संकटों से दूर होने का उपाय अपने आपके स्वरूप का अवलोकन और उसका ही आचरण हैं।

अनात्मा को स्वीकार करने से अनुपमेय बरबादी—भैया ! यह धन पैसा वैभव ये सब धूल की तरह नि:सार हैं। कभी इस बीच यह याद आ जाय तो फिर रोटी कैसे खायें, पेट कैसे भरें? अरे कीड़ा मकौड़ा जैसे पेट भर लेते हैं, और, और मनुष्य कैसे पेट भर लेते हैं? जिस कर्म के उदय से इतना श्रेष्ठ मनुष्यजन्म और कुल तथा धर्म मिला हे वहाँ ऐसी योग्यता भरी ही होती है कि प्राण रहने लायक गुजारा चलता ही रहे किन्तु वह मनुष्य प्राण रहने तक की ही नहीं सोचता, यह तो वह चाहता है कि मैं इस मानव समाज में विशिष्ट स्थान पाऊ, आदर पाऊ, धनी कहाऊ और उस मानकषाय की पुष्टि के लिए, धनसंचय के लिए अत्यन्त व्यग्र हो रहा है। और कदाचित् कोई उदर पूर्ति के लिए भी व्यग्र हो तो ऐसे अपवादरूप बिरले ही पाप के उदय वाले पुरुष होते हैं। आजीविका का साधन प्राय: प्रत्येक के उदय के साथ लगा हुआ है। इन असार पर जड़ पौद्गलिक पदार्थों में अपने उपयोग यों फंसाना कि यह ही मेरा सब कुछ है यह यहाँ मूढ़ता है। सोचते भी जावो तो भी कुछ नहीं होता है। मानने से भी परपदार्थ अपने नहीं हो जाते हैं। मोही तो केवल इन्हें अपना मानकर अपनी बरबादी पर तुला है।

आत्मतत्त्व की उपासना का प्रताप—यह साधु परमेष्ठी वस्तुस्वरूप के यथार्थज्ञान के बल से समस्त अनात्मतत्त्वों से हटकर निज शुद्ध ज्ञायकस्वरूप में मग्न होता है। उसके प्रताप से ये अरहंत प्रभु हो जाते हैं। जिस किसी को यह पता भी न हो कि 8 वां गुणस्थान यों है, 9 वां गुणस्थान यों है, इस तरह की क्षपकश्रेणी है, इस तरह की निषेकवर्गणाये व अति स्थापनाए रहती हैं, यों-यों कर्मों का विध्वंस होता है, न कुछ पता हो, केवल एक निज ज्ञायकस्वरूप का ही अनुभव हो तो वे सारे काम स्वयमेव हो जाते हैं। जिनका वर्णन करने के लिए श्रुतकेवली भी थक सकता है। एक मात्र काम है बढ़े चलो, अपने स्वरूप में बढ़े चलो, मग्न रहो। करे तो कोई ऐसी हिम्मत किसी भी क्षण नहीं हो सकता है। 24 घंटे तो न सही, पर उन 24 घंटों में से दो एक मिनट भी ऐसी झलक चले तो बाह्य में कहीं प्रलय न मच जायगी, घर जमीन न धस जायगा। निरन्तर चिंतावों का बोझ किसलिए लादते हो? यह साधु परमेष्ठी इस शुक्लध्यान के प्रताप से जहां रागद्वेष का धब्बा नहीं, ऐसे बिल्कुल सफेद ध्यान के प्रताप से यह घनघातिया कर्मों को हटा देता है।

प्रभु में घातिकर्म की मलरहितता—ये घातिया कर्म हैं आत्मा के गुणों का घात करने वाले। ये घनरूप हैं, सान्द्रीभूत हैं, ठोस हैं। जैसे गहन अंधकार हो जाता है, उस बीच कहीं अवकाश नहीं मिलता है। ये कर्म सब घन हैं, गहन है। इनके बीच कहीं अवकाश नहीं है। इस जीव के साथ जो यह शरीर लगा हुआ है उस शरीर में अनन्त परमाणु हैं, जिनका अंत नहीं आ सकता। निकलते जावें, पर इनकी गिनती का अन्त नहीं आ सकता और इससे भी अनन्त

गुणे ऐसे शरीररूप बन सकने की उम्मीद रखने वाले विश्रसोपचय पड़े हैं, उनसे अनन्तगुणे तैजस शरीर के परमाणु पड़े हैं, उनसे अनन्तगुणे कर्म परमाणु पड़े हैं और अनन्तगुणे उम्मीद रखने वाले कहीं यह बच्चा भाग न जाय, ऐसा पहरा लगाते हुए विश्रसोपचय कार्माणवर्गणा के परमाणु पड़े हुए हैं। सोचो ये कर्मवर्गणाएं कितनी शाश्वत् भूत हैं, घन हैं, ऐसे ये ज्ञानावरण दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय कर्म उनसे भी अत्यन्त विरहित हैं। इस निर्दोषता के कारण ये सकल विबुध मनोहारी हैं। लोक में भी निर्दोषता और गुणकता का आदर है। मोहवश सदोष से, निर्गुणी से जितना मोह कर सको, करो पर ऊब जावोगे अवश्य प्रकृत्या झुकाव निर्दोषता और गुणवत्ता की ओर होता है।

प्रभु की अशेषगुणसम्पन्नता—भगवान् अरहंतदेव में समस्त गुण आ गये और दोष एक भी नहीं है। सम्बंध में मुनि मानतुंगाचार्य ने कहा है—को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषैस्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश। दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि।।

कहते हैं कि हे नाथ ! आपका आश्रय समस्त गुणों ने ले लिया, अर्थात् समस्त गुण आपमें प्रवेश कर गये। हमें तो इस मामले में कुछ भी आश्चर्य नहीं मालूम होता है। क्या आश्चर्य है इसमें? ये सारे गुण हमारे पास आये, हम सब संसारी प्राणियों के पास आये और भिक्षा मांगने लगे कि हमें ठहरने के लिए जगह दे दो, पर हम सब संसार के प्राणियों ने उन्हें ललकार दिया, उन्हें ठहरने के लिए जगह नहीं दी। कहा कि जावो यहाँ जगह नहीं है। तब दुनिया के सारे लोगों के पास से भागकर सारे गुण झक मारकर आपमें आ गए। तो इसमें क्या विशेषता है?हम तो विशेषता तब जानें जब कि हम उन गुणों को अवकाश दें और वे सारे गुण आपके पास पहुंच जायें, तब तो हम आपकी महत्ता जानें? हम सब संसारी प्राणियों से सारे गुण इसीलिए दूर हो गए कि उन्हें ठहरने के लिए अपने घर में जरा भी स्थान नहीं दिया। इसका हम प्रमाण बतायें। सुनो भगवन् ! हम सब लोगों ने दोषों को खूब जगह दे रक्खी है। ये दोष भी हम सब संसारी प्राणियों के पास आये, कहने लगे कि हमें ठहरने के लिए जगह दे दो तो हाँ-हाँ यह तुम्हारा ही तो मकान है,ऐसा कहकर उन्हें जगह दे दी गई। तो बतावो कि एक भी दोष क्या आपके पास आ सका? नहीं आ सका ना। इसी से ही भगवान् तुम निर्णय कर लो कि आपमें यदि समस्त गुण आ गये तो आश्चर्य क्या? यों समस्त गुणसम्पन्न निर्दोष अरहंत परमात्मा हो जाता है जो साधु शुक्ल ध्यान में मग्न रहता है।

साधुसाधनाफल अरहंत परमेष्ठी—तेरह प्रकार के चारित्रों के निश्चय और व्यवहार साधना के फल में यह अन्तरात्मा भगवान अरहंत परमेष्ठी होता है, उस ही अरहंतस्वरूप का यह वर्णन चल रहा है। वह अरहंत भगवान् निर्मल केवलज्ञान, केवलगुप्ति और केवलसुख से सहित है। यद्यपि प्रभु की ऐसी स्थिति है कि वह समस्त पदार्थों को जानता है, किन्तु अपने आनन्दरस में लीन है, ऐसी सम्पदा और परमशांति से सहित है, लेकिन वहाँ तो होती है शांति की स्थिति और यहाँ तीनों लोक में भगदड़ मच जाती है। प्रभु के केवलज्ञान होने पर स्वर्गलोक खाली होने लगता है। भगवान् के चरणों में आने के लिए अधोलोक के देव व इन्द्र आते हैं मनुष्य और तिर्यञ्च भी पहुंचते हैं। तीनों लोक में एक बड़ा क्षोभ हो जाता है। क्षोभ केवल विषादमय अवस्था को ही नहीं कहते हैं, किन्तु हर्षमय अवस्था में भी क्षोभ होता है।

आकर्षण का कारण गुणविकास—तो तीनों लोक के ऐसे हर्षपूर्ण क्षोभ का कारण प्रभु का गुणविकास है। ऐसा किसी को कहा जाय तो बड़ा भद्दा लगेगा। भगवान् को तो हुआ गुणों का विकास और यहाँ लोक में मच गई भगदड़। यहाँ देख लो। आये तो हैं दसलाक्षणी के दिन, लेकिन सब जैनियों में खलबली मच गयी। तो ऐसा जो प्रक्षोभ है वह धर्म को लाने वाला है। ठीक है मान लिया, पर 12 महीने तो इतना प्रक्षोभ नहीं मचता जितना कि इन 10 दिनों में मचा। मंदिर के पास बैठो तो इतना हल्ला मचता है कि सड़कों पर सुनाई देता है। पूजन, 12, 1 बजे तक होता है, कहीं कुछ हो रहा है, कहीं कुछ हो रहा है, दसलाक्षणी आयी तो जैनसमाज में उथलपुथल होने लगी। यद्यपि यह उथलपुथल धर्म के भाव से है पर हुआ तो प्रक्षोभ।

गुणविकास का साधन—प्रभु में सब जीवों के आकर्षण का यह गुण विकास कैसे हुआ है? अन्तरंग कारण तो उनका ही उपादान है। बहिरंग कारण घातियाकर्मों का प्रध्वंस विनाश है। जिन घातियाकर्मों को प्रभु ने पहिले संसार अवस्था में बोया था उनके प्रध्वंस की स्थिति उत्पन्न हुई है। प्रभु समस्त विश्व के ज्ञाता द्रष्टा होकर भी अपने आनन्दरस में लीन रहा करते है। प्रभु में और हम आपमें द्रव्यत: अन्तर नहीं है। प्रभु की कथनी करके ही संतुष्ट मत हो जावो। प्रभु के गुण गा दिये, इतने मात्र से ही अपने को कृतार्थ न समझो, किन्तु यह साहस बनावो कि यह मैं आत्मा जो अनादि काल से घोर दु:खों में चल रहा हू। उसमें बड़ी सामर्थ्य है, जो अनन्त चतुष्टयसम्पन्न प्रभु में पाया जाता है वही सामर्थ्य हम आपमें भी है।

प्रभुभक्ति का उद्देश्य—प्रत्येक प्रसंग में जीव अपना लाभ चाहता है। धनिकों से सम्बन्ध रक्खे और कोई लाभ का प्रयोजन वहाँ न रखे तो वह एक पागलपनसा प्रतीत होता है। ज्ञानियों में कोई अपना प्रसंग रक्खे और ज्ञान की अथवा शांति की कोई भावना न करे तो उसका भी वह निरुद्देश्य प्रसंग है। यों ही धर्म की साधना करे और वह कुछ न बन सके तो वह सारा श्रम ही व्यर्थ है। हम प्रभु की जी तोड़ भक्ति करें, दूकान भी खराब करें, समय भी खराब करें, रोजगार धंधे में भी फर्क डालें, घर के मौज भी सब छोड़ दें, एक बार भोजन करें, सारे श्रम करें और प्रभु की भक्ति के लिए तन, मन, धन, वचन न्यौछावर कर डालें तो कुछ लाभ तो लूटना चाहिए। लाभ का तो उद्देश्य कुछ न बनाया और प्रभु के गुण गाते रहे तो यह तो उसी तरह है जैसे कि धनी पुरुष के गुण गाते रहें और लाभ कुछ न पायें, अपना दरिद्र न मिटायें। उससे अच्छा तो यही था कि किसी नेता से, धनिक से मिलकर कुछ लाभ कर लेते। यों ही धर्म के नाम पर तन, मन, धन, वचन न्यौछावर कर डालें और लाभ की प्राप्ति कुछ न की तो सारा श्रम ही व्यर्थ रहा। क्या इसमें कुछ लाभ है? लाभ तो यह है कि हम बार-बार यह भावना बनाए और तुलना करें कि जो प्रभु का स्वरूप है, जो प्रभु में सामर्थ्य है, ज्ञान और आनन्द का जो परमविकास है वह ही मेरा स्वरूप है, मेरा भी वही विकास हो सकता है, ऐसी दृष्टि डालें।

भैया ! प्रभुता पाने के लिए ज्ञानसिंचन करें और अपने चारित्र अंकुर को बढ़ायें, यह तो है लाभ वाली बात का उपाय। यह न कर सके तो कुछ भी न कर सके। यह अरहंत प्रभु सर्वशरणभूत है, आदर्शरूप है, परमोपकारी है। देखो णमोकार मंत्र में सर्वोत्कृष्ट परमेष्ठी सिद्ध भगवान् है। आठों कर्म नष्ट हो गये है, शरीर तक का भी प्रसंग नहीं है। धर्मद्रव्य की तरह अत्यन्त शुद्ध चेतनतत्त्व है, किन्तु जब परमेष्ठियों का स्मरण किया, प्रणमन किया तो सर्वप्रथम बोलते हैं णमो अरिहंताणं, अरहंतों को नमस्कार हो, यही कारण है कि अरहंत और सिद्ध दोनों ही अंतरंग भाव की अपेक्षा

तो समान हैं। केवल एक बाह्यमेल का अन्तर है। कर्मअघातिया लगे हैं और शरीर लगा है, इतनी त्रुटि तो अवश्य है, लेकिन प्रामाणिकता में, अंतरङ्ग विकास में कोई अंतर नहीं है। और फिर यदि अरहंत परमेष्ठी न होते या उनके प्रवाह से यह उपदेश न मिलता तो सिद्ध परमेष्ठी को कौन जानता? जितने परमागम हैं इन सबकी मूल परम्परा अरहंत भगवान् है। मंगलाचरण में कहा भी है कि—अस्य मूलग्रन्थकर्तार: सर्वज्ञदेवा:। ऐसे वे अरहंतदेव अनन्तचतुष्टय से सम्पन्न है। उनमें यह व्यक्त अनन्त चतुष्टय और हम आपमें है यह स्वभाव अनन्त चतुष्टय। प्रभुभक्ति का लाभ तो यही है कि हम अपने आपमें भी अपनी शक्ति के अनुसार विकास कर सकें।

प्रभु की आदर्शरूपता—दीनता के लिए प्रभु की भक्ति नहीं है, हे प्रभु तुम मालिक हो, मैं दास हू। सुख दो दु:ख मेटो यह तुम्हारी बान है और हमारी बान है विषयकषायों में लगना (हसी)। अब झड़ में झड़ कैसे मिलेगी? हे नाथ ! तुम्हारा तो दयालु स्वभाव है, यदि तुम सुख न दोगे दु:ख ही देते रहोगे तो फिर तुम्हारी दयालुता ही कहां रही? वहाँ तो यह कहते हैं और यहाँ अपने कुटेव में अन्तर नहीं डालना चाहते। अरे कुटेव में अन्तर डालो और अपने श्रद्धान् ज्ञान आचरण से चलो तब भी आपका भगवान सुख न दे, यह कैसे हो सकता है?भगवान तो आदर्शरूप है, सच्चिदानन्दमय है, ज्ञान दर्शनस्वरूप है, उनका तो स्मरण ही हमारे पाप हरने वाला है। भगवान मेरे पाप नहीं हरते, किन्तु भगवान के स्मरण से हमारे पाप हट जाते हैं। प्रभु सुख नहीं देता, किन्तु प्रभु के गुणों का जो अनुराग है वह सुख देता है। प्रभु तो आदर्शरूप हैं।

तीर्थंकरों के जन्म के दश अतिशयों के सम्बन्ध में—वह प्रभु 34 अतिशय करि विराजमान है। अरहंतों में जो तीर्थंकर हैं वे तो समस्त अतिशयों कर सम्पन्न हैं, किन्तु जो तीर्थंकर नहीं हुए हैं, साधारण केवली अरहंत हैं उनमें यथासम्भव यह अतिशय होता है। उनमें केवलज्ञान से पहिले होने वाले तो अतिशय हैं। उनमें संख्या की विषमता है। किसी के सब होते हैं व किसी के सब नहीं होते हैं। प्रभु अरहंत तीर्थंकर भगवान में देखो जन्मते ही ये 10 चमत्कार प्रकट होते हैं। अतिशय सुन्दर रूप सुगंधित शरीर, उनके शरीर में पसीना तक नहीं न कभी निहार होता, प्रिय हितकर वचन बोलने की उनके प्रकृति है और अतुल्य बल है। देखो सामुद्रिक शास्त्र में जो हस्तरेखा विज्ञान है, वह इस आधार पर है कि जो पुरुष जैसा उत्कृष्ट होता है पुण्यवान होता है, पवित्र होता है वह वैसे ही शुभ और सुभग शरीर को प्राप्त होता है। इस बुनियाद पर यह सब सामुद्रिक विज्ञान है। बहुत सुडोल सुन्दर हाथ हों, उनके पवित्र लक्षणों का दर्शाने वाला चिन्ह हों कि यह पुरुष उत्कृष्ट पुण्य वाला है, उत्कृष्ट विचारो वाला है। जो पुरुष कुछ भी भवों से मोक्ष जाने वाला है, विश्व के जीवों का उद्धार करने वाला है ऐसे उत्कृष्ट पुण्यवान पुरुष को कैसा शरीर मिलेगा?

तीर्थंकरों के शरीर में श्वेताकार रुधिर एवं शुभ लक्षण—तीर्थंकर का शरीर हम आपसे बहुत अधिक अतिशयवान होता है। तीर्थंकर प्रभु का खून श्वेत के आकार का अर्थात् सफेद बताया है। कोई सुने तो क्या कहे? कहीं खून भी सफेद होता है, पर डाक्टर लोगों से पूछा तो वे बता देंगे कि सफेद खून भी होता है और लाल खून भी होता है। हम आप सबके दोनों ही प्रकार के खून पाये जाते हैं। लाल खून की शक्ति अधिक बढ़ जाय तो उसमें बीमारियां अधिक होती है, श्वेत खून की शक्ति अधिक हो जाय तो उसमें शक्ति विशेष प्रकट होती है। इस सम्बन्ध में एक कवि की कल्पना है कि जो मां एक बच्चे से प्यार करती है उसके शरीर में दूध उत्पन्न हो जाता है, झर जाता है। एक बच्चे के प्यार में शरीर के कुछ हिस्से में दूध आ जाता है और जो सारे विश्व के जीवों पर प्यार करे उसके सारे शरीर में

दूध की तरह श्वेत बन जाय, यह एक प्रेमभरी बात है और वैसे तो शरीर में श्वेत खून सबके हुआ करता है, किसी के कम किसी के अधिक। उनका विशेष अतिशय है सो श्वेतता की अधिकता है।

शरीर के शुभ लक्षण—उनके शरीर में 1008 लक्षण होते हैं। तिल, मसा, रेखा चक्र, चिन्ह, ध्वजा, मछली, धनुष, चक्र आदिक अनेक चिन्ह होते हैं। ये उनके जन्म से ही अतिशय हैं। क्या इन महापुरुषों के हाथ पैर के लक्षणों को देखकर शास्त्रों में लिखते हैं कि ये लक्षण होते हैं या शास्त्रों में लिखने के बाद यह निर्णय किया है कि ये शुभ लक्षण हैं? अरे इन महापुरुषों के लक्षणों को ही देखकर लिख डालो कि ये सब लक्षण शुभ हुआ करते हैं। तीर्थंकर अरहंतदेव के जन्म से ही, 1008 लक्षण हुआ करते हैं।

समचतुरस्रसंस्थान व वज्रवृषभनाराचसंहनन—शरीर का नाप नाभि से चलता है। नाभि शरीर के बीच की जगह है। समचतुरस्रसंस्थान में जितनी लम्बाई हो उतनी लम्बाई नीचे पैरों तक होनी चाहिये। आज यह कुछ कठिन सा हो गया है। प्राय: नाभि से नीचे के अङ्ग, टांगें बहुत बढ़ जाती हैं और ऊपर का हिस्सा थोड़ा रह जाता है। आजकल लगभग ऐसे ही शरीर दिखने में आते हैं, किन्तु यह शुभ शरीर नहीं हैं। शुभ शरीर होगा तो नाभि से ऊपर नाभि के नीचे समान लम्बाई होगी। हाथ कितने लम्बे हों, नाक कितनी लम्बी हो? सबके परिमाण इस एक शुभ लक्षण के आधार से हैं। ठीक उसही प्रकार हों तो समचतुरस्रसंस्थान होता है। जो मूर्तियां जैनसिद्धान्त के अनुसार बनती हैं उनमें यह परिणाम रखा जाता है, खड्गासन मूर्ति हो तो पद्मासन मूर्ति हो तो, नाभि से ही समस्त हिसाब रखे जाते हैं। तीर्थंकर प्रभु के व सभी अरहंतों के जन्म से ही वज्रवृषभनाराचसंहनन होता है। ये जन्मते ही तीर्थंकर प्रभु में 10 अतिशय प्रकट हो जाते हैं।

तीर्थंकरों के जन्मत: दस अतिशय—इस तरह के सभी अतिशय तीर्थंकरों में होते हैं और इनमें से अतिशयों को छोड़कर अनेक अतिशय सामान्य केवली के भी जन्म से चलते हैं। वज्रवृषभनाराचसंहनन। यह जन्म समय से चला और भी कुछ लक्षण होते हैं, पर जन्मते ही ये 10 अतिशय तीर्थंकर अरहंत प्रभु के हैं। तीर्थंकरों में इस युग के आदि में आदिनाथ भगवान प्रथम तीर्थंकर हुए हैं। कितने ही वर्ष हो गये होंगे, कितने ही कोड़ा-कोड़ी वर्ष हो गये होंगे, आज की बात नहीं। जिस समय प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ भगवान उत्पन्न हुए थे उस समय से ही लोक में उनका प्रताप चला आ रहा है।

आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव का प्रताप—आदिम देव ने लोगों का कितना संरक्षण किया था? इससे ही अंदाज लगा लो कि तब से ही लोक में यह प्रसिद्धि हुई है कि ईश्वर सृष्टि का करने वाला है। जब भोगभूमि थी तब लोग चैन से रहते थे। जब उसकी समाप्ति हुई तो लोग बेचैन रहने लगे। उस समय असि मसि कृषि वाणिज्य आदि सब कर्मों का प्रयोगात्मक शिक्षण ऋषभदेव भगवान ने दिया था। 14 मनुवों में अंतिम मनु नाभि राजा थे। लोग नाभि राजा के पास विनती करने आये तो उन्हें ऋषभदेव के पास भेजा। कहा कि ऋषभदेव में ही सर्व सामर्थ्य है। यह गृहस्थावस्था की बात है, वे जब संन्यासी न हुए थे तब की बात है। तो प्रजारक्षार्थ वे सब उपदेश देने लगे, उन्होंने लोगों के रक्षण का उपाय बताया। तब से यह प्रसिद्धि चली कि भगवान ने सृष्टि की। वे नाभि राजा से ही उत्पन्न हुए थे। तो नाभि से कमल निकला। कमल में एक देव उत्पन्न हुआ, उन्होंने रक्षा की। ये सब अलंकारिक भाषा में है। कोई किसी रूप में मानते है, कोई किसी रूप में। किसी ने आदम बाबा मान लिया। आदम का अर्थ है आदिक इस महायुग के शुरू में

जो उत्पन्न हुए वह हैं तीर्थंकर आदिनाथ। उन्हें कोई आदम के रूप में, कोई ब्रह्म के रूप में, कोई सृष्टिकर्ता के रूप में, यों अनेक रूपों में तभी से बात प्रचलित होती आयी है। ऐसे प्रभु अरहंत देव कैसे हुए हैं? इसका वर्णन चल रहा है।

अरहंत प्रभु के केवलज्ञान के दस अतिशयों में से सुभिक्षता व गगनगमन का अतिशय—प्रभु अरहंत भगवान 34 अतिशयों के स्थान हैं, इसमें 10 स्थानों का वर्णन किया। अब 10 स्थान केवलज्ञान के होते हैं। प्रभु के केवलज्ञान उत्पन्न होने पर क्या-क्या अतिशय प्रकट होते है? उनमें पहिला है 100 योजन चारों ओर सुभिक्ष का होना। भगवान जहां विराजे हों उसके 400 कोश चारों ओर सुभिक्ष का होना। सब सुखी हों, अन्न आदिक अच्छा पैदा हो, ऐसे अतिशय स्वयमेव होते हैं। भला घर का मुखिया अच्छी तरह आबाद रहे तो फिर घर के लोगों को दु:ख का क्या काम है? ऐसे ही इस विश्व के प्रधान जहां विराज रहे हों, उनके चारों ओर बहुत दूर तक जीव दु:खी रहें, ऐसा क्यों हों? प्रभु का गमन आकाश में होता है। हम आपकी भांति जमीन पर उनका गमन नहीं होता। लोग प्रभु को देखते भी हैं ऊपर की ओर तो लोक में सिद्ध प्रभु विराजमान् हैं और अपने आप से ऊपर में अरहंतदेव विराजमान् हैं।

चतुर्मुखदर्शन और अध्याभाव का अभाव—प्रभु के ऐसा अतिशय होता हैं कि सभावों के चारों ओर से प्रभु का मुख दिखता है। प्रभु का समवशरण गंधकुटी, उनकी उपदेश सभा गोल होती है। चारों ओर बैठने वाले कब निर्व्यग्र हो सकते हैं जब चारों ओर से मुख दिखे। भगवान के मुख चार नहीं होते हैं किन्तु चारों ओर से उनके दर्शन होते हैं, और इसीलिए कोई लोग चतुर्मुख कहते हैं प्रभु को। वह प्रभु किस प्रकार चतुर्मुख है? जैसे स्फटिक मणि स्वच्छ हो तो उसमें दोनों ओर से प्रतिबिम्ब दिखता है। स्फटिक पाषाण भी ऐसा होता है, यह स्फटिक पाषाण मूलबद्री की तरफ बहुत पाया जाता है। इसमें भी आगे पीछे दोनों तरफ से प्रतिबिम्ब दिखता है। तो स्फटिक मणि से विशिष्ट स्वच्छ जिनका परमौदारिक शरीर है उसके अगर चारों ओर से मुख दिखने लगे तो क्या आश्चर्य? चारों ओर से मुख दिखे, इसमें परमौदारिक शरीर का अतिशय है। प्रभु के अदयाभाव नहीं रहता। उनके राग भी नहीं, द्वेष भी नहीं और साथ ही यह जानना कि भगवान के निकट किसी भी जीव के अदयाभाव नहीं रहता है। यह भी एक अतिशय है। प्रभु की भक्तिवश ही तो दर्शनार्थ वहाँ पहुंचते हैं। उनके चित्त में इतनी उज्ज्वलता होती है कि उन भक्त प्राणियों के भी अदयाभाव नहीं रहता है।

प्रभु के उपसर्ग का अभाव—प्रभु पर कोई उपसर्ग नहीं कर सकता। प्रभु के बिल्कुल निकट ही तो कोई नहीं पहुंचता। यक्ष इन्द्र भी जो सेवा करते हैं अब वे बाहर-बाहर ही खड़े रहकर सेवा कर देते हैं। यों समझ लीजिए जैसे घर में बालक पैदा हुआ तो बचपन में सभी गोद खिलाते हैं। मां, बाप, चाचा, चाची सभी खिलाते हैं और वही बालक बड़ी अवस्था का विद्वान् त्यागी हो जाय, साधु हो जाय, फिर उसे उसके मां, बाप, चाचा, चाची क्या गोद में खिलायेंगे? नहीं खिलायेंगे। जैसे लोग दूर से दर्शन कर लेते हैं इसी तरह से दर्शन करने की उनकी प्रवृत्ति बनती है, किन्तु वे प्रभु हैं, भले ही इन्द्रों ने उन्हें गोद में लिया, अभिषेक किया, उनके साथ खेले, कुछ मन भाया, गृहस्थावस्था तक ये संगम रहे, ठीक है और कदाचित् मुनि अवस्था तक भी ऐसी सेवा रही, ठीक है, और केवलज्ञान होने के बाद इन्द्र भी उनसे दूर रहकर, निकट रहकर, उन्हें न छूकर अपनी भक्ति प्रदर्शित करते हैं।

प्रभु के कवलाहार का अभाव—प्रभु के कवलाहार नहीं होता। वे ग्रास लेकर आहार नहीं करते। कोई-कोई प्रभु अरहंत अवस्था में 8 वर्ष कम 1 करोड़ पूर्व तक रह सकता है याने करोड़ों वर्ष तक भगवान रहकर विहार करें और उन समस्त करोड़ों वर्षों तक भी वे कवलाहार नहीं करते। उनका ऐसा परमौदारिक शरीर है कि शरीरवर्गणाए अपने आप इतनी पवित्र इतनी शक्तिमान उनके शरीर में प्रवेश कर रही हैं कि कवलाहार की आवश्यकता ही नहीं है। जैसे कोई आदमी खा नहीं सकता तो आजकल एक इन्जेक्शन चला है—गुलूकोज का इन्जेक्शन देते हैं। जो कवलाहार तो नहीं करते, मुख से आहार नहीं करते, उनके यह इन्जेक्शन दे देने से दो चार दिन उसे भूख नहीं लगती। यह आहार तो यहाँ का है, तो समझ लीजिए कि जहां प्राकृतिक शुद्ध शरीरवर्गणायें आ रही हों, यों ही भगवान को करोड़ों वर्षों तक कवलाहार की आवश्यकता नहीं होती है।

प्रभु के समस्त विद्यावों का ऐश्वर्य और प्रभुदेह में नख, केश की बुद्धि का अभाव—ये प्रभु समस्त विद्यावों के स्वामी हैं। विद्या मायने जानना। कौनसी विद्या उन्हें जानने को रह गयी? सारे लोक के समस्त परिणमन जब ज्ञान में आ चुके हैं तब और क्या रह गया है?वे सब विद्यावों के ईश्वर हैं। केवलज्ञान होने के पश्चात् प्रभुदेह के नख और केश नहीं बढ़ते हैं। पहिले बढ़ते हैं किन्तु केवलज्ञान होने के बाद का यह अतिशय है। अब तो इनका परमौदारिक शरीर है। क्या बताए जिस पुरुष का परिणाम निर्मल होता है और बहुत काल से निर्मल होता चला आया है, उसको सुन्दर शरीर मिलता है, उसका स्वास्थ्य सुन्दर रहता है और शरीर में दुर्गन्ध नहीं रहती, मल में दुर्गन्ध नहीं रहती, ऐसी बहुतसी बातें तो निर्मल परिणाम होने वाले लोगों के हुआ करती हैं। जो ऋद्धिधारी मनुष्य है उनके ऐसा अतिशय हो जाता है कि उनके मल, मूत्र, थूक, खकार का स्पर्श हो जाय अथवा उनकी छूटी हुई वायु जिनके लग जाय तो वे स्वस्थ हो जाते हैं, बीमारी हट जाती है। यह प्रताप उनके निर्मल परिणाम का है, प्रभु अत्यन्त निर्दोष हैं, गुणों के परमविकास के स्थान पवित्र पुरुष हैं, अरहंत देव हैं। उनके शरीर में यह अतिशय भी हो जाता है कि नख और केश वृद्ध नहीं होते हैं।

अनिमिष नयन व निश्छाया देह का अतिशय—प्रभु के आंखों की पलक नहीं गिरती। वह पलक न बहुत ऊची उठी रहती है, न नीची रहती है किन्तु सहज बड़े विश्राम के साथ जैसे कभी आप बैठते हैं इसी प्रकार की दृष्टि प्रभु की रहती है। जल्दी-जल्दी कभी अपन लोगों के कमजोरी के कारण आंखें मींच जाती हैं—ऐसा लगता है ना। तो उन प्रभु का परमौदारिक शरीर है, अतुल्य बल है, वहाँ आंखें नहीं मींचती, उनका शरीर स्फटिक मणि की तरह स्वच्छ होता है, इस कारण उनके शरीर की छाया भी कहीं नहीं पड़ती है। जैसे हम धूप में चलते हैं तो शरीर की छाया पड़ती है, पर इस तरह प्रभु की छाया नहीं पड़ती। जो कांच बिल्कुल निर्मल पड़ा हो, उसे भी धूप में रख दो तो उसकी भी छाया नहीं पड़ती। जो चारों ओरसे स्वच्छ हो, यों ही स्फटिक मणि की तरह पवित्र परमौदारिक शरीर की भी छाया नहीं पड़ती है। ये 10 अतिशय केवलज्ञान होने पर प्रभु के प्रकट हो जाते हैं।

निर्दोषता का आकर्षण—इनके अतिरिक्त 14 अतिशय और होते हैं, जिनमें देवों के प्रबन्ध की बात है। प्रभु की अन्त:स्वच्छता के प्रताप के आकर्षण के कारण देव इस प्रकार का प्रबन्ध करते ही हैं। देखो जीव का बड़प्पन निर्दोषता में है, धनवैभव में नहीं है। प्रभु अरहंतदेव जब सर्व राग द्वेषों से मुक्त हो गये, पूर्ण गुणसम्पन्न निर्दोष हो गए, तब देखो स्वर्गों से देव इन्द्र खींचे जा रहे हैं। अधोलोक से भवनवासी, व्यन्तर चले आ रहे हैं और इस लोक से बड़े-बड़े

मनुष्य, तिर्यंच चले आ रहे हैं, यह महत्त्व निर्मलता का है, निर्दोषता का है। निर्दोषता में जब महत्त्व बढ़ता है तो अत्यन्त अधिक बढ़ता है और नहीं तो कुछ ऐसी भी स्थिति आती है कि कोई पूछने वाला भी नहीं रहता है, पर पूर्णनिर्दोषता में अत्यधिक महत्त्व बढ़ता है। यह जगत् दोषियों के रहने का स्थान है, जहां निर्दोषता का छोटा भी मूल्यांकन न हो सके और जैसे कि आजकल के शासन की चर्चा करते हुए लोग कहते हैं कि राज्य के किसी काम में ईमानदारी से रहने का जमाना नहीं है, रहे तो रह न सके ईमानदारी से। ईमानदारी से गिरे हुए लोग रहने नहीं देते। तो यहाँ निर्दोषता का मूल्यांकन नहीं होता। फिर भी यदि अपनी निर्दोषता में डटा रहे और अपना ध्येय बना ले कि मुझे सदा के लिए सदा करना युक्त ही हैं तो कुछ समय पश्चात् मूल्यांकन होगा।

निर्दोषता का वैभव—किसी राज्याधिकारी महापुरुष के गुजरने पर देश और विदेश में लोग आंखें लगायें, सम्वेदना प्रकट करें, यह आन्तरिक वैभव के बल की बात नहीं है, बल्कि इसमें तो कितने ही लोग खुशी भी मना सकते हैं—अच्छा हुआ मर गया, हम लोगों को बहुत परेशान करता था;किन्तु निर्दोषता में वह महान् बल है कि जहां तक गति हो, निर्दोषता की प्रसिद्धि हो;वहाँ तक के जीवों का उस ओर आकर्षण होता है। प्रभु अरहंतदेव पूर्णनिर्दोष हैं, कोई दोष नहीं है। इसलिए देखो स्वर्गों से देव-देवियां नाना प्रकार से संगीत-गायन-नृत्य करते हुए भगवान के दर्शन को आने लगते हैं। मनुष्य लोग भी गान-तान करते हुए दर्शन को जाते हैं।

अर्हद्भक्ति का एक दृश्य—किसी भी समय जब कहीं भी खूब सुन्दर बाजे बज रहे हों, जैसे कि बैण्ड बाजा या बीन वगैरह बज रहे हों और यह पता न हो कि ये बाजा किसी के बारात के हैं या पुत्रोत्पत्ति के समय के है और आप यह ध्यान लगाकर बैठ जायें कि प्रभु का यों समवशरण हैं, देव-इन्द्र-देवियां कैसे सुन्दर गीत और संगीत करते हुये आते हैं, लो ये आ रहे हैं। यह समवशरण में विराजमान् प्रभु हैं और कभी यह ख्याल आ जाय कि यह तो मनुष्य लोग बजा रहे हैं जो बाजे गानों में सुनाई दे रहे हैं तो उस समय आप समझ लेंगे कि जब मनुष्यों में बड़ी कला हैकि इतने सुन्दर गीत संगीत कर सकते हैं तो कलावों के पुञ्ज देव-देवियां कितने मधुर नाच पूर्ण गीत-संगीत करते आते हुए आते होंगे? इतना सोचने के बीच थोड़ा यह भी ध्यान लावो—अहो ! यह समस्त प्रताप प्रभु की निर्दोषता का है, वीतरागता का है। उक्त प्रकार से आप भक्ति में प्रगति से घुसते चले जाते हैं और जब यह ख्याल आ जाय कि अहो ! ऐसी निर्दोषता का स्वरूप तो मेरा भी है। क्या इतना बंधन पड़ा है? तब आपके आंसू आपका स्वागत करने लगेंगे। उस समय हर्ष, विशाद, आनन्द, ध्यान और ज्ञान—इन सबका जो संमिश्रित भाव होगा, उस भाव को कोई बता नहीं सकता।

दिव्य भाषा—प्रभु अरहंतदेव के इस प्रताप के कारण देवता लोग भी अतिशय किया करते हैं, उन अतिशयों में पहिला अतिशय है प्रभु की अर्द्धमागधी भाषा। देवकृत अतिशय में बताया है—सम्भव है कि आजकल के लोग कुछ ऐसे यंत्रों का आविष्कार कर रहे हैं, सुना है ऐसा कि बोलने वाला किसी भी भाषा में बोले;किन्तु दो चार भाषावों के लोग भी अपनी-अपनी भाषा में सुन सकेंगे। हम नहीं कह सकते कि इसमें कितना मनुष्य के प्रयोग का हाथ है और कितना यंत्र का हाथ है। यह तो यहाँ के बड़े वैज्ञानिक लोगों की बात है। देवों के इन्द्रों के विज्ञान का तो शुमार क्या है। क्या करते होंगे? अर्द्धमागधी भाषा में यों वाणी का प्रसार होता है कि वहाँ सुनने वाले लोग करीब मगध देश के होंगे या कोई हों, वे सब सुन लेते हैं। भला बतलावो कोई एक नेता भाषण करने आता है तो लोग कितना बड़ा मंडप

बनाते हैं, कैसा सुहावना स्टेज लगा देते हैं, कितने ही लाउडस्पीकर लगा देते हैं और कितना-कितना प्रबंध रखते हैं? भला जो इस विश्व का सर्वोपरि नेता है, उस नेता का जहां सहज भाषण हो रहा हो, दिव्यध्वनि का निर्गमन हो रहा हो और जहां शोभा शृङ्गार करने वाला इन्द्र है, वह कैसी अद्भुत आकर्षक रचना होगी? अतिशयों में अर्द्धमागधी भाषा का होना, यह प्रथम अतिशय है।

पारस्परिक मित्रता व षड्ऋतुफलन—सर्वजीव आपस में मित्रता का बर्ताव करते हैं। यह तो प्रभु के निकट उपस्थित होने का अतिशय है, पर इसमें आत्मदेव का भी कुछ हाथ है। ऐसा वातावरण प्रत्यक्षरूप, परोक्षरूप रचना के रूप में बनता है कि वहाँ जो जीव पहुंचते हैं उनकी आपस में मित्रता रहती है। सिंह और मृग भी एक सभा में बैठें तो उनमें भी परस्पर में विरोध नहीं रहता है। सर्प और नकुल भी एक साथ बैठें रहते हैं। निर्मल दशाए हो जाती हैं, निर्मल आकाश हो जाता है और 6 ऋतुओं के फल-फूल फलने लगते हैं। असमय में तो वृक्ष के फल किसी उपाय से अब भी लोग कर सकते हैं, जो उनका उपाय हो, जैसी गर्मी चाहिए, जैसा वातावरण चाहिए, उस उपाय से असमय में फल उत्पन्न अब भी किए जा सकते हैं। वहाँ तो कुछ कमी ही नहीं है, प्रभु की निकटता है, देवों का प्रबन्ध है। असमय में फलने-फूलने वाले वृक्ष एक साथ फल-फूल दिया करते हैं। उस समय पृथ्वी कांच की तरह निर्मल हो जाती है। पहिले तो जीव के इन अद्भुत प्रबन्धों को ही निरखकर विषयकषायों के परिणाम शिथिल हो जाते हैं और जब प्रभु के दर्शन करते हैं तो वहाँ विषयकषायों का रहना नहीं होता है।

निःसहि का उपयोग—भक्तजन मन्दिर में दर्शन करने जब जाते हैं तब मन्दिर के द्वार से लोग निःसहि-निःसहि बोलते हैं। उसका परमार्थ प्रयोजन यही है कि हमने रागद्वेष भावों से 23-23 घण्टे दोष किया है। अब हम जा रहे हैं भगवान् के दरबार, कुछ वहाँ इन रागद्वेषों के विषयकषायों की दाल गल नहीं सकती है। ये विषयकषाय मिट जायेंगे। यहाँ चिरकाल के उन दोषों की दोस्ती निभाई जा रही है, सो शुरू में यह आवाज दे रहे हैं कि हे विषयकषायों के परिणाम ! तुम निकल जावो। निःसहि का अर्थ है निकल जावो ताकि तुम्हें यह कष्ट न हो कि अचानक ही क्यों नष्ट कर दिया? यों सूचना देते हुए लोग निःसहि बोलते हैं। प्रभु के निकट ये रागद्वेष के भाव रह नहीं पाते।

प्रभुपादपद्मतलस्थ हेमपद्म की शोभा—भगवान् अरहंत प्रभु आकाश में विहार करते हैं और जब वे विहार करते हैं तो उनके चरणों के नीचे कमल रचे जाते हैं, ये देवकृत अतिशय हैं। एक चरण तो वह, जहां रखा हुआ है उसके नीचे कमल है और आगे 7 कमल और रचे गए हैं, पीछे भी सात कमल हैं। एक पंक्ति में 15 कमलों की रचना होती है यह एक युक्ति है, भक्ति का परिचय है। जैसे यहाँ लोक के किसी बड़े पुरुष के शुभागमन में कपड़े बिछाते हैं, रेशमी कपड़ा बिछाते हैं, वैसे ही वे प्रभु आकाश में गमन करते हैं तो देवता उनके चरणकमलों के नीचे कमल रच देते हैं। जहां प्रभु के दोनों चरण विराजमान् हों वहाँ एक समृद्धि की रचना हो जाती है। ऐसा होने के लिए प्रभु ने क्या किया था कि इस भगवान् आत्मा के जो ज्ञान दर्शनरूप दो चरण हैं उनको उन्होंने अपने उपयोग में विराजमान् किया था, उस सहजज्ञान, सहजभाव की उन्होंने आराधना की थी, तब उन्हें अन्तरङ्ग अनुभव की समृद्धि प्राप्त हुई। तब फिर उनके अतिशयों में बाह्य अतिशय स्वर्ण कमलों की रचना है तो कौनसे आश्चर्य की बात है?

देवकृत अनेक अतिशय—देवगण आकाश में ही जय-जय की ध्वनि गूज लगाते हैं, मन्द और सुगन्धित पवन चलाते हैं और सुन्दर सुगन्धित बहुत पतली जल की बूदें बरसाते हैं, सुगन्धित पुष्पों की वृष्टि होती है। जब वे विहार

करते हैं। जिस दिशा की ओर विहार करते हैं उस ओर देवगण ऐसा प्रबन्ध रखते है कि भूमि में कोई संकट न रहे प्रभु की भक्ति में बाधा न पहुंचे। उस समय सारी सृष्टि हर्षमय हो जाती है। ऐसे भगवान के केवलज्ञान होने पर इतना अतिशय देवतागणों के द्वारा किया जाता है।

तीर्थकृद्वन्ध का पुण्यप्रताप—यों 34 अतिशयों के निधान भगवान् अरहंतदेव होते हैं। भगवान् अरहंतदेव परमौदारिक शरीर वाले हैं। उनके शरीर में कोई अशुद्ध धातु उपधातु नहीं रहती है। उनके नेत्र शुद्ध विकसित रहते हैं, पलक नहीं गिरती है, महान् पुण्य के आश्रयभूत हैं। तीर्थंकर प्रकृति से बढ़कर और कोई प्रकृति नहीं होती है। भला बतलावो तीर्थंकर प्रकृति उदय में तो आएगी 13 वें गुणस्थान में, किन्तु तीर्थंकर प्रकृति का चूंकि बन्ध किया है तो अन्य पुण्यप्रकृतियों में इतनी विशेषता आ जाती है कि उनके जन्मकाल में और जन्मकाल से भी 6 महीना पहिले देवगण खुशी मनाते हैं। बताते हैं कि तीर्थंकर के पिता के आँगन में प्रतिदिन रत्नवृष्टि होती रहती है। 6 महीने पहिले से लेकर जब तक वे बाहर न आ जायें, जन्म न हो जाए अर्थात् 15 महीने तक रत्नवृष्टि होती है।

तीर्थकृद्वन्ध का नरकगति में भी प्रताप—कोई जीव नरकगति से आकर यदि तीर्थंकर बनता है तो जब उस नारकी की आयु 6 महीने शेष रहती है तो उस नरक में एक विक्रियामयी कोट रचा जाता है और वहाँ पर वे नारकी सुरक्षित, सर्वदु:खों से रहित, कोई पीड़ा न दे सके—ऐसी स्थिति में रहते हैं। नरकगति में निरन्तर दु:ख हैं, किन्तु जहां तीर्थंकर होते है। उनको अपनी आयु के अन्तिम 6 महीना में कोई बाधा नहीं रहती है। तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध ही तो किया, उदय नहीं है, पर उस बन्ध की भी इतनी महत्ता है कि तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के साथ जो अन्य पुण्य प्रकृतियां है, उनमें इतनी विशेषता हो जाती है कि जन्मकाल से पहिले से ही एक हर्षमय वातावरण बन जाता है। कुछ ऐसा समझ लो जैसे कि जिस पुरुष के बारे में यह विदित हो जाए कि यह पुरुष अब मिनिस्टर बनेगा, बनेगा तो दो माह बाद, पर पहिले ही उसकी आवभक्ति अधिक होने लगती है। यों ही तीर्थंकर होगा 13 वें गुणस्थान में, लेकिन अभी से इन्द्र का आकर्षण हो जाता है।

ज्ञानसूर्य—जिन तीर्थंकर का परमविकास हुआ हैं, मुनिजनों के मोक्षमार्ग के विकास के प्रमुख निमित्तभूत हैं, जिनके चार घातियाकर्म विनष्ट हो जाते हैं, जिनका चारित्र, जिनका स्मरण सर्वजीवों को सुख उत्पन्न करने वाला है, वे परमप्रभु तीर्थंकर जयवन्त हों। ये प्रभु अरहंतदेव पूर्ण निष्काम, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह—इन समस्त शत्रुवों से रहित है, अजेय है। अब इन पर किसी भी देश का आक्रमण नहीं हो सकता। अनेक जीवों के पुण्यबन्ध के लिए वे निमित्तभूत हैं। जैसे कमल के विकास में सूर्य निमित्त है, ऐसे ही जगत् के जीवों के विकास में ये प्रभु अरहंत निमित्तभूत हैं, इसलिए परमसूर्य है। यह सूर्य तो पौद्गलिक अन्धकार को नष्ट करने में कारण है, किंतु प्रभु सूर्य जीवों के अज्ञानांधकार को नष्ट करने में हेतुभूत है। यह सूर्य तो कभी आताप का भी कारण बन जाता है, गर्मी की वेदना का भी कारण बन जाता है, किन्तु यह प्रभु सूर्य हर प्रकार से जीवों के शांति का ही निमित्तभूत होता है। भगवान् की मुद्रा के दर्शन से, भगवान् की दिव्यध्वनि सुनने से, भगवान् की उपदेश परम्परा से, प्राप्त हुए आगम के अध्ययन से सर्वप्रकार से जीवों को शांति प्राप्त होती है।

आनन्द के कारणभूत—यह प्रभु सर्वविद्यावों में निधान परम आनन्दरूप परिणत हैं। दूसरे का सुख का कारण वही हो सकता जो स्वयं सुखी हो। जो स्वयं दु:खी है वह दूसरे के सुख का कारण कैसे हो सकता है? भगवान् सकल

परमात्मा स्वयं अनन्त आनन्दमय हैं, इस कारण वे सर्वजीवों के आनन्द के हेतुभूत हैं। आनन्द तो हमारा आपका कहीं खो नहीं गया है, कहीं भाग नहीं गया है, आनन्द तो स्वयं में ही है, पर अपने इस निर्विकल्प आनन्दस्वरूप की परख किए बिना बाह्यपदार्थों में आशा बना रहे हैं। उन बाह्यपदार्थों की भिक्षा मांग रहे हैं, इस कारण से दु:खी हो रहे हैं, दु:खी प्रयत्न करके हो रहे हैं। सहज तो यह आनन्दमय ही है।

प्रभुभक्ति से प्रभुता की प्राप्ति—इस आनन्दमयस्वरूप का विकास प्रभु के हुआ है, सो वे सर्वप्राणियों के आनन्द के कारण हैं। कोई सरागभक्ति करके, पुण्यबन्ध करके लौकिक सुख प्राप्त कर लेता हैं तो कोई शुद्ध भक्ति करके अपना मोक्षमार्ग बना लेता है। प्रभु अरहंतदेव सब जीवों के सुख के कारणभूत हैं। संसार का संताप प्रभु के नहीं रहा, जिसके पास जो चीज है, वही चीज उसकी भक्ति और संगति सेवा से मिला करती है। किसी ज्ञानवान की सेवा करके आप धन कहां से पा लेंगे? ज्ञान पाया जा सकता है। किसी धनवान की सेवा करके ज्ञान कहां से पाया जा सकता है? कुछ धन पा लोगे। प्रभु अरहंतदेव संसार के संताप से दूर हैं और सहज अनन्त आनन्दमय हैं। उनकी भक्ति के प्रताप से जीव आनन्द प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, फिर भी प्रभुभक्ति में यह विशेषता है कि धन प्रभु नहीं देते, किन्तु जो प्रभु की भक्ति करता है, उसके ऐसा पुण्य का बन्ध होता है कि मनचाहा लौकिक सुख उसे स्वयमेव प्राप्त हो जाता है। ये लौकिक सुख के भी देनहार इस तरह से हुए।

प्रभु की विशेषतायें—इनमें प्रमुखता तो संसारसंताप हरने की है, इसी कारण ये सकल परमात्मा हरि कहलाते हैं। जो पापों को हरे, उसे हरि कहते हैं। यह सकल परमात्मा हर कहलाता है। जो सर्वभाव-मल को दूर करे, उसे हर कहते हैं। यह ही भगवान् शिवस्वरूप हैं। शिव का अर्थ है आनन्द, कल्याण। यह कल्याणमय है अर्थात् शुद्ध सृष्टियों की रचना वाला है। अतएव यही ब्रह्मा है, अपने सुगम स्वाधीन ऐश्वर्य का स्वामी है, इस कारण ईश्वर है और स्वयं ही यह राम है। जिसके स्वरूप में योगीजन स्मरण करें, उस राम कहते हैं। यह ज्ञान लोकालोक में सर्वत्र व्यापक है, इस कारण यह विष्णु कहलाता है। बुद्ध ज्ञानमय है।

जयवाद—ऐसे प्रभु अरहंतदेव भक्तजनों के आदर्शरूप हैं, संकटों के हरने वाले हैं। जिनके चरणकमल में बड़े-बड़े राजा-महाराजा शीश नवाते हैं—ऐसे कषायरहित अपगतवेद शुद्ध सम्यक्त्व के धारी अरहंतदेव जयवन्त हों। भैया ! प्रभु तो जयवन्त हैं ही, किन्तु उनके स्मरण के प्रसाद के धर्ममार्ग में लगे हुए हम आप भी जय प्राप्त करें—ऐसी भक्त के अन्तर में भावना है। भक्त की भावना के कारण भक्त स्वयं उनका जयवाद करता है अथवा यों कहो कि भगवान् अरहंतदेव की जो गद्दी है अर्थात् धर्मप्रचार, धर्मप्रसार। वह धर्मप्रसार जयवन्त हो, इसके लिए भगवान् की जय बोलते हैं।

प्रभु की जीवन्मुक्तता—प्रभु अरहंतदेव को हम संसारी जीव तो कह नहीं सकते। जो निर्दोष हो गये, केवलज्ञानी हो गए—ऐसे प्रभु के सम्बन्ध में अब उनके संसारपना कहना कैसे युक्त है? साथ ही अभी वह स्थिति भी नहीं है कि शरीर के कर्म, लगाव, बन्धन—इन सबसे बिल्कुल मुक्त हो गये हों। वे सशरीर परमात्मा हैं। उन्हें न संसारी कह सकते हैं और न सर्वथा मुक्त कह सकते हैं, अत: उनको जीवनमुक्त कहना चाहिए। वे शरीर में बसते हुए भी मुक्त है बाहरी मल लग गया है शरीर का और अघातिया कर्मों का प्रसंग हैं किन्तु उनसे इस आत्मा के गुणों में कोई बाधा ही नहीं आती है। ऐसा यह जीवनमुक्त है, सर्वपापों से परे है। विभाव किसी प्रकार का अब उनमें सम्भव नहीं है।

तरणतारण—प्रभु ने भव्यजीवों के सर्वसंकटहारी मोक्षमार्ग को प्रकट किया है। जैसे कोई पुरुष नदी में से निकल कर पार हो रहा हो, पार हो चुका हो तो उसे यह अधिकार है कि दूसरी पार रहने वाले लोगों को समझाये कि इस रास्ते से आवो, इसमें न कहीं खड्डा है, न कहीं कोई धोखा है, तुम पार हो जावोगे। इसी तरह इस संसारसमुद्र में से जो पार हो चुके हैं—ऐसे अरहंतभगवान् को यह शोभित और समर्थ अधिकार है कि वे विश्व के जीवों को यह निर्देश दे सकें कि इस-इस विधि से आओ। देखो इस विधि से चलकर हम भी मुक्त हुए हैं। प्रभु यों नहीं कहते हैं, किन्तु उनका जो उपदेश है, उसमें ऐसी झलक पायी जाती है कि इस मार्ग से चलो तो तुम भी मुक्त हो जावोगे। तत्त्व का श्रद्धान् करो, इस शुद्धआत्मतत्त्व का परिज्ञान करो और इस आत्मतत्त्व में ही रम जावो तो इस विधि से संसार से पार हो जावोगे। यों निर्वाण मार्ग का उपदेश करने वाले अरहंत प्रभु हमारे नयन पथ पर सदा चलने वाले रहें अर्थात् वे मेरी दृष्टि में बने रहें।

भक्ति का महत्त्व—भक्ति में अतुल प्रताप है। कोई यदि शुद्ध व्यवहार भी पा ले, शुद्ध ज्ञान भी पा ले, चारित्र भी पा ले, लेकिन इस शुद्ध ज्ञानपुञ्ज भगवान में यदि भक्ति नहीं जगती है तो समझ लो कि सहज परमनिर्वाध उत्कृष्ट, सत्य, आनन्द महल में तो किवाड़ पहिले से लगे हुए थे उनके खुलने का अवकाश नहीं मिल सकता। इस आनन्द महल में मोह के किवाड़ लगे हुए हैं, उन किवाड़ों में विषय शक्ति का जो ताला लगा है उसके खोलने की कुञ्जी यथार्थ प्रभुभक्ति है। प्रभुभक्ति बिना किसी को मार्ग नहीं मिल सकता। शुद्ध आनन्द का विकास, शुद्ध ज्ञान का विकास ही मोक्ष कहलाता है, जिन्हें संसार के संकटों से छूटने की अभिलाषा है उन्हें चाहिए कि वे ज्ञानपुञ्ज आनन्दघन भगवान की भक्ति में अपना उपयोग लगायें।

कल्याणप्रवाह—ये भगवान कार्यपरमात्मा ऐसे विशुद्ध स्वरूप को देखने से उनके सहज स्वभाव का भी सुगम परिचय होता है। और वहाँ सहजस्वभाव का परिचय होने के कारण अपने आपमें अपने सहजस्वभाव का परिचय होता है। जिसे आनन्दस्वरूप अपने आत्मतत्त्व का परिचय हुआ है उसे संसार में कोई बाधा नहीं। यह है एक महान् वैभव। यथार्थज्ञान के समान वैभव लोक में अन्य कुछ नहीं है। बाह्य पदार्थ जो मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, ये मुझमें क्या करामात कर सकते हैं? मैं स्वयं आनन्दस्वरूप हू। मोह छोड़ो, रागद्वेष हटावो और अपने शुद्ध आनन्द का अनुभव कर लो। मिश्री की डली हाथ में है। किसी से पूछने की क्या आवश्यकता है कि यह कितनी मीठी होती है? अरे स्वयं खाकर समझ लो। यहाँ तो फिर भी अन्तर है। मुह दूर है, हाथ दूर है, डली भिन्न पदार्थ है, किन्तु आत्मीय आनन्द के अनुभव के लिए कोई भी अन्तर नहीं है। यह अनुभव करने वाला स्वयं है, यह आनन्द स्वयं है, और आनन्द के अनुभव की पद्धति से अनुभव होता है। ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु की भक्ति से अपने आत्मस्वरूप का विकास होता है, ऐसे हेतुभूत प्रभु की भक्ति हम सबका कल्याण करती है।

गाथा 72

णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिसा परमा।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति।।72।।

सिद्धपरमेष्ठी का प्रकरण—इस गाथा में सिद्ध परमेष्ठियों का स्वरूप कहा गया है। यह सिद्ध भगवान सिद्ध की परम्परा से निमित्तभूत भी है, यों कि जो निकट भव्य पुरुष सिद्ध परमेष्ठी के गुणविकास का ध्यान करते हैं और उस गुणविकास के स्मरण के माध्यम से कारणपरमात्मतत्त्व की उपासना करते हैं वे पुरुष निकट काल में सिद्ध हो जाते हैं। यों सिद्ध की परम्परया हेतुभूत भगवान सिद्ध परमेष्ठियों का इसमें स्वरूप कहा गया है।

सकलकर्म विप्रमोक्ष—प्रभु सिद्ध भगवान अष्टकर्मों के बन्धन से रहित हैं। चारघातिया कर्मों के विनाश से अरहंत अवस्था होती है और फिर आयुकर्म के अंतिम समय में अघातिया कर्म एक समय विनष्ट होते हैं। यों 8 कर्मों के बन्धन से रहित सिद्धपरमेष्ठी होते हैं। कर्मों के विनाश का कारण है शुक्ल ध्यान। यह शुक्लध्यान 8 वें गुणस्थान से लेकर 13 वें गुणस्थान तक है। 8 वें गुणस्थान के पृथक्त्व वितर्कविचार शुक्लध्यान से कर्मों के क्षपण की तैयारी होती है और नवम गुणस्थानवर्ती साधुवों के उस शुक्लध्यान के बल से प्रकृतियों का क्षय प्रारम्भ हो जाता है। हाँ सम्यक्त्व घातिया 7 प्रकार का क्षय अवश्य पहिले धर्मध्यान के प्रताप से और आत्मावलम्बन के प्रसाद से हुआ था। 10 वें गुणस्थान में भी पृथक्त्ववितर्कविचार शुक्लध्यान के कारण संज्वलन का विनाश होता है और 12 वें गुणस्थान के एकत्व वितर्कविचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान में शेष रहे तीन घातिया कर्मों का अन्तिम समय में एक साथ विनाश होता है और सयोग केवली अवस्था में कषायरहित शुक्लध्यान के प्रताप से स्वयं ही कर्मों की निर्जरा चलती है और केवली समुद्घात में विशेषतया 3 अघातिया कर्मों की निर्जरा होती है। फिर अंत में एक साथ चार अघातिया कर्मों का अभाव हो जाता है।

निश्चयपरमशुक्लध्यान—जब साधक के निश्चय शुक्लध्यान की स्थिति होती है, जहां सर्व प्रकार से यह उपयोग अन्तर्मुखाकार होता है ध्यान ध्येय के विकल्प से रहित निश्चय परमशुद्ध ध्यान प्रगट होता है, तब उस विशुद्ध अभेद ध्यान के प्रताप से यथापद निर्जीर्ण होकर 8 कर्मों के बन्धन समाप्त होते हैं। जब यह ज्ञान इस सहजज्ञानस्वरूप को एकाकार होकर जान लेता है अर्थात् जहां ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय का एकीकरण हो जाता है वहाँ यह निश्चयपरमशुक्लध्यान उत्पन्न होता है। यह सिद्ध प्रभु 8 महा गुणों कर सहित हैं। वे 8 गुण हैं समकित, दर्शन, ज्ञान, अगुरुलघुत्व, अवगाहन, सूक्ष्म, अनन्तवीर्यत्व, निराबाध।

सिद्ध प्रभु में क्षायिक सम्यक्त्व व क्षायिक दर्शन—प्रथम है क्षायिक सम्यक्त्व। सम्यक्त्व का घात करने वाली 7 प्रकृतियों का जहां क्षय हो चुका है और समीचीनता प्रकट हुई है ऐसे भावों को कहते हैं क्षायिक सम्यक्त्व। मौलिक समीचीनता का नाम है सम्यक्त्व। जहां ज्ञान में विपरीतता नहीं रहती है जिसके होने पर ज्ञान सही काम करता है और चारित्रगुण अपनी ओर उन्मुख हो जाता है ऐसी मौलिक समीचीनता को सम्यक्त्व कहते हैं। प्रभु सिद्ध में केवल दर्शनगुण प्रकट हुआ है। चार घातिया कर्मों के भाव से जो सिद्ध में गुण प्रकट हुए हैं वे सिद्ध से भी पहिली अवस्था में प्रकट हो चुके हैं।

दर्शन का दर्शन—दर्शन कहते हैं आत्मतत्त्व के स्पर्श को, शुद्ध परमविश्राम को। जैसे हम किसी पदार्थ के जानने में व्यग्र हैं, जान रहे हैं, अब हम उस पदार्थ के ज्ञान को छोड़कर अन्य पदार्थों को जानने लगें तो पहिले पदार्थ का जानना छूटा और नये पदार्थ का ज्ञान नहीं कर पाया, इसके बीच यह उपयोग आत्मा का स्पर्श करता है। इसका समय बहुत कम है और जैसे कोई किसी कामकाज में बड़ी तेजी से लगा हो और जल्दी-जल्दी निकलते हुए में थोड़ासा

चौखट सर में लग जाय तो भी उसका पता ही नहीं पड़ता है, क्योंकि उस काम में विशेष धुन थी, उसे जब स्पर्श किया तभी जान सके। ऐसे ही इन विषयकषायों से भरे हुए प्राणियों का परपदार्थों की ओर इतना आकर्षण है, इतनी तेज धुनि है कि एक पदार्थ के ज्ञान को छोड़कर दूसरे पदार्थ को जानने चलते हैं तो बीच में आत्मा का स्पर्श हो जाता है, पर इस मोही जीव को अपने जौहर का पता नहीं हो पाता है कि मैं कुछ आत्मा के निकट भी आया था। उस समय जैसे यह आत्मा के निकट आता है वैसा पता जिसे पड़ जाय, ओह यह मैं हू तो उसको सम्यग्दर्शन हो जाता है।

छद्मस्थों के दर्शन ज्ञान का क्रमशः उपयोग—यह दर्शन हम आप छद्मस्थ जीवों के क्रम से होता हैं। दर्शन हुआ, फिर ज्ञान हुआ, फिर दर्शन हुआ, फिर ज्ञान हुआ। दर्शनमार्गणा 4 बताये गए हैं उससे मतलब है ज्ञान का। दर्शन और ज्ञान एक साथ हम आपके उपयोग में नहीं होते हैं। ये दोनों गुण हैं और दोनों गुणों का परिणमन निरन्तर चलता है। पर छद्मस्थ अवस्था के कारण केवलज्ञान होने से पहिले अज्ञान अवस्था के कारण यह दर्शन और ज्ञान का उपयोग एक साथ नहीं होता है। यह ही दर्शन जब दर्शनावरण कर्म का क्षय हो जाता है तो निरन्तर विकसित बना रहता है अर्थात् सिद्ध भगवान को तीनलोक तीनकाल के पदार्थों का भी ज्ञान निरन्तर चल रहा है और अपने आत्मा का दर्शन भी निरन्तर चल रहा है, यों सिद्ध प्रभु में केवल दर्शन नामक महागुण है।

प्रभु का केवलज्ञान—केवलज्ञान नामक महागुण भी सिद्ध प्रभु में है। गुण पहिले अरहंत अवस्था में भी प्रकट हो चुका है। केवलज्ञान के बल से सिद्ध भगवान तीनलोक तीनकाल के समस्त पदार्थों को एक साथ स्पष्ट जानते हैं। कैसा उनके अलौकिक विलक्षण ज्ञान है, किस प्रकार से प्रभु जाना करते हैं? इसका मर्म अज्ञानी को तो विदित हो ही नहीं पाता, पर ज्ञानी जीव के भी वचन के अगोचर है। जैसे खट्टा मीठा स्वाद जानते हैं अथवा काला पीला रूप जानते हैं;कोई ऐसा ही स्पर्श जानते हैं या ऐसे रूप, रस, गंध, स्पर्श को जानना केवल प्रभु के नहीं बना रहता है। यह जानना तो विकृत ज्ञान है। खट्टा मीठा परखना यह सब जैसे हम जानते हैं यह सब विकृत ज्ञान है और ऐसा ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से हो पाता है। जहां इन्द्रियां नहीं हैं, केवल आत्मा ही आत्मा है, ज्ञानस्वरूप प्रकट हुआ है वहाँ वह केवलज्ञान किस प्रकार जान रहा होगा? यह वचन के अगोचर है और देखिये हम कभी रूप जानते हैं, कभी रस जानते हैं, कभी कुछ जानते हैं और वे प्रभु सर्वपदार्थों को एक साथ जानते हैं तो उनका जानना किस रूप का होता होगा? इसको वचन नहीं पकड़ सकते।

प्रभु का ज्ञान इतना विशाल है कि उनके ज्ञान में ये तीन लोक, तीन काल के समस्त पदार्थ ऐसे प्रतिबिम्बित हो जाते हैं जैसे इतने महान् आकाश में एक जगह तारा टिमटिमाता है। उस तारे को छोड़कर सारा ही आसमान खाली पड़ा है और ऐसे-ऐसे तारे अनन्त भी आ जायें तो भी इस आकाश में समा जायें। यों ही यह समस्त लोक और कालवर्ती पदार्थ समूह भगवान् के ज्ञान में तारे की तरह एक कोने में पड़ा रहता है—ऐसे-ऐसे लोक अत्यन्त भी हों तो भी भगवान् के ज्ञान में समा जायें अर्थात् सबको जान जायें—ऐसे विशाल ज्ञान के अधिपति प्रभु सिद्धभगवान् हैं। यह महागुण है, तभी तो तीन लोक के जीव, इन्द्रदेव, चक्रवर्ती, मनुष्य तिर्यंच सब खिंचे जा रहे हैं। थोड़ा यहीं से अंदाज कर लो। भगवान् का कोई उत्सव-विधान हो, धारा-समारोह हो, रात्रिजागरण हो तो उसमें ही लोग कैसे खिंचे चले आते हैं, वे प्रभु की भक्ति में ही समय बिताकर आनन्द पाते हैं। इससे ही अंदाज करो। जहां साक्षात् अरहंत भगवान्

विराजे हों वहाँ तो तीनों लोक का कितना आकर्षण होता है? इसे भी वचनों से नहीं आंक सकते हैं। उन अरहंत परमेष्ठियों से भी जिनका और विशिष्ट रूपक है अर्थात् बाह्यमल भी जहां नहीं रहा है ऐसे सिद्ध परमेष्ठी का हम वचनों से क्या कथन कर सकते हैं? यह केवलज्ञान महागुण से सम्पन्न है।

सिद्धों का अगुरुलघुत्व गुण—प्रभु में अगुरुलघुगुण प्रकट हुआ है। सिद्ध से पहिले सब संसारी अवस्थावों में अगुरुलघु गुणों का विकृतरूप चलता आया था अर्थात् कोई कुल में बड़ा है, कोई कुल में छोटा है, लोकव्यवहार में कोई ऊचा माना जाता था, कोई नीचा माना जाता था, ऐसी परम्परा, ऊचे नीचे का बढ़ाव, चढ़ाव, घटाव रहा करता था। जब तक अरहंत भगवान भी थे तब तक उच्च कुल वाले कहलाते थे। अब सिद्ध प्रभु होने पर वहाँ का जो समागम है वहाँ न ऊचा है कोई, न नीचा है कोई ऊच कुल और नीच कुल का वहाँ भेद समाप्त हो चुका है। वे तो यों विराज रहे हैं जैसे यहाँ कोई शुद्ध परमाणु हो जाता है। द्रव्य ही तो है, शुद्ध हो गया। धर्म आदिक द्रव्यों की तरह अत्यन्त पवित्र वह शुद्ध आत्मा है।

सिद्धों का अवगाहनत्व गुण—प्रभु सिद्ध भगवान में अवगाहनत्व गुण प्रकट हो जाता है। जहां एक सिद्ध विराजे हैं वहाँ अनन्त सिद्ध समाये हुए हैं। यहाँ हम आप शरीर वाले हैं तो एक की जगह दूसरा नहीं समा पाता है, पर वहाँ तो एक सिद्ध के स्थान में अनन्त सिद्ध समाये हुए हैं। स्तुति में बोला करते हैं—जो एक मांही एक राजे माहि अनेकनों। एक अनेकन की नहीं संख्या नमो सिद्ध निरञ्जनो।। कितना ऊचा भाव है? वे सिद्ध भगवान् कैसे हैं जो एक मांहि एक राजे—एक सिद्ध में एक सिद्ध है और एक सिद्ध में अनेक सिद्ध हैं। अरे वहाँ एक अनेक की कुछ संख्या ही नहीं है। तीन बातें कही गई हैं सिद्ध के स्वरूप के स्मरण में। उन तीनों का अर्थ सुनिये।

सिद्ध भगवंतों के सम्बन्ध में एक में एक व एक में अनेक राजने का रहस्य—एक में एक राजे अर्थात् जो एक सिद्ध आत्मा है उस सिद्ध आत्मा में वह ही आत्मा है और अपने ही गुणपर्याय से तन्मय है। भले ही उस स्थान पर अनेक सिद्ध विराज रहे हैं परन्तु प्रत्येक सिद्ध प्रभु का ज्ञान उनके जुदा-जुदा हैं। उनका आनन्द उनका अपने आपमें है, एक प्रभु का परिणमन किसी अन्य प्रभु के परिणमन रूप नहीं बन जाता है। जैसे यहाँ ही हवा भी है, शब्द भी हैं और भी अनेक पदार्थ हैं, फिर भी वे सब केवल अपने आपमें अपना स्वरूप रखते हैं। ऐसे ही सिद्ध भगवान अपने आपमें अपना ही स्वरूप रखते हैं। इस कारण सिद्ध एक में एक है, एक में अनेक नहीं है। द्रव्य का स्वरूप ही ऐसा है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र हैं। अपने ही अस्तित्त्व को लिए हुए है। एक में एक ही है अनेक नहीं है। यह अर्थ हुआ एक में एक राजे का।

वह प्रभु एक में अनेक है। जो सिद्ध इस स्थान से मुक्त हुआ है वह इस स्थान से फिर ठीक सीध में लोक के अंत में विराजमान है और इसी स्थान से क्रम से हजारों मनुष्य मुक्त हुए हों तो भी इस ही सीध में वे ही विराजमान हो जाते हैं। ऐसे अनन्त सिद्ध होते हैं एक-एक स्थान पर से। वे कहां विराज रहे हैं? वे उसी एक स्थल में विराज रहे हैं, यों यह बात सिद्ध होती है कि एक में अनेक हैं। सिद्ध प्रभु एक में एक हैं, एक में अनेक हैं।

एक अनेक के विकल्पों से विक्तिता—तीसरी बात है 'एक अनेकन की नहि संख्या', उस स्वरूप में एक और अनेक की संख्या ही नहीं है। यथार्थ ज्ञानी भक्त जब उस ज्ञानपुञ्ज का स्मरण कर रहा है उस शुद्ध ज्ञानस्वरूप का जब ध्यान कर रहा है तो उस ध्यान के समय में उसके उपयोग की सीमा नहीं बंध सकती कि लो यह है रामचन्द्र का सिद्ध

आत्मा, लो यह हे आदिनाथ का सिद्ध आत्मा। एक और अनेक वहाँ ही पुकारे जाते हैं जहां वस्तु के आकार प्रकार का ध्यान रहता है। उस गुण पुञ्जरूप सिद्ध स्वरूप के स्मरण के समय आकार प्रकार का ख्याल नहीं किया जाता। होता ही नहीं है वैसा, तो एक शुद्ध ज्ञानपुञ्ज ही दृष्ट होता है। ऐसी स्थिति में हम सिद्ध को क्या कहें कि वे एक हैं अथवा अनेक हैं। वहाँ एक अनेक का विकल्प नहीं है। इस प्रकरण में यह जानियेगा कि सिद्ध भगवान में अवगाहना गुण प्रकट हुआ है, जिसके प्रसाद से सिद्ध के एक उस ही स्थान पर अनेक सिद्ध समा जाते हैं।

सूक्ष्मत्व, अनन्तवीर्य व अव्यावाध गुण—ऐसे ही उनमें सूक्ष्मत्व गुण है। अब अंतराय का क्षय होने से अनन्तवीर्य प्रकट होता है। सुख भी एक बाधा है, दु:ख भी एक बाधा है। वेदनीय का अभाव होने से सुख और दु:ख दोनों का अभाव हो जाता है। यों अष्टमहागुणों करि समन्वित परमोत्कृष्ट आत्मा सिद्धपरमेष्ठी कहलाता है। ऐसे सिद्ध प्रभु योगी पुरुष के सदा वन्दनीय रहता है और उनके उपासक जन उनको ही एक परमशरण समझ कर व्यवहार में उनकी भक्ति में तत्पर रहते हैं।

परम आत्मा—ये सिद्धपरमेष्ठी परम कहलाते हैं। परम का अर्थ है उत्कृष्ट। जहां उत्कृष्ट लक्ष्मी पायी जाये, उसे परम कहते हैं। परमात्मा के उत्कृष्ट लक्ष्मी है, इसलिए वे परम आत्मा कहलाते हैं। अब यह उत्कृष्ट लक्ष्मी क्या है? लक्ष्मी शब्द का अर्थ है ज्ञान। लक्षण, लक्ष्म, लक्ष्मी—इन तीनों का एक ही मतलब है। आत्मा का जो लक्षण है, वही आत्मा की लक्ष्मी कहलाती है। आत्मा का लक्षण है चैतन्यस्वरूप, ज्ञानदर्शन—यही हुई लक्ष्मी। जिनके ज्ञानदर्शन का उत्कृष्ट विकास है, उन्हें परम कहते हैं। दूसरी बात यह है कि जो तीन प्रकार के तत्त्व कहे गए हैं—बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा—इन तीनों स्वरूपों में विशिष्ट गुणों का आधारभूत यह परमात्मा है। इसलिए सिद्धपरमेष्ठी को परम कहा गया है। सिद्धभगवन्त कैसे हैं? इस स्वरूप की याद में और इस व्यवहारचारित्र के प्रकरण में जो तेरह अंग वाला चारित्र कहा गया है, उस चारित्र की साधना में अंतिम परिणाम क्या होता है? उसके फलोपदेश में यह सिद्धपरमेष्ठी का स्वरूप कहा जा रहा है।

सर्वथा निर्बन्ध नाथ—इनके अष्टकर्मों का बंधन नष्ट हो गया है। इनमें 8 कर्मों के भाव से उत्पन्न हुए, 8 महा गुणों की सम्पन्नता प्रकट हुई है, यह उपेयतत्त्व है, तीनों तत्त्वों में विशिष्ट गुणों का आधार है। उन गुणों का उत्कृष्ट विकास यहाँ प्रकट हुआ है—ऐसे ये सिद्धपरमेष्ठी हैं। यहाँ तक इन विशेषणों से उपादेयतत्त्व की झलक हो रही है कि यह कर्मबन्धन याने भावकर्मबन्धन, द्रव्यकर्मबंधन और नोकर्मबन्धन इन जीवों को दु:खों का निमित्तभूत है अथवा दु:खस्वरूप है, इससे रहित होना चाहिए। जैसे कि सिद्ध परमेष्ठी सर्वथा निर्बध हो गए हैं।

शक्ति व्यक्ति का समन्वय—ये अष्टमहागुणों कर सम्बन्धित है। जो गुण वहाँ प्रकट हुए हैं, उन गुणों का स्वभाव हम आपमें अभी से है। हम भी यदि कुछ हिकमत से चलें, व्यवहारचारित्र का आश्रय और अंतरंग में निश्चयचारित्र का आलम्बन रखते हुए उपयोग की यात्रा शिवरूप बनायें तो यह शिवस्वरूप प्राप्त किया जा सकता हे। उत्कृष्ट ज्ञानविकास का स्मरण किया है। यह ज्ञानविकास कुछ नया कहीं से लाना नहीं है, यह तो ज्ञानस्वभावी ही है, किंतु भ्रमवश, पर की ओर के आकर्षण वश जो आकुलताए बनी हैं, उनका अभाव हो तो वह परमात्मतत्त्व प्रकट हो जाता है।

सिद्धप्रभु का अवस्थान—सिद्धभगवान कहां विराज रहे हैं, कब तक रहते हैं? ऐसी बाह्यस्थिति भी अब बतलाई जा रही है। यह प्रभु लोक के अग्रभाग पर स्थित है। जहां तक यह लोक है, वहाँ तक यह प्रभु पहुंचता है। आगे धर्मास्तिकाय अभाव होने से और इन सिद्धप्रभु के कोई वांछा तो है नहीं कि आगे पहुंचूं। केवल सहजनिमित्तनैमित्तिक योग से लोक के अग्रभाग पर स्थित हो जाते हैं। लौकिक जन जब कभी परमात्मा का स्मरण करते हैं, चाहे किसी भी नाम से करें, पर उनकी दृष्टि ऊपर की ओर हो जाती है। जब वे भगवान को पुकारते हैं—हे प्रभु ! हे भगवान् ! हे परमेश्वर ! हे अल्ला ! या जिस किसी भी नाम से पुकारते हैं, उनकी दृष्टि ऊपर की ओर जाती है, ऊपर मुख करके बोला करते हैं। जो लोग ऐसा मानते हैं कि भगवान सर्वत्र व्यापक हैं, वे भी कभी नीची निगाह करके भगवान को नहीं पुकारते। यह प्राकृतिकता सब मानवों के चित्त में बसी हुई है कि वे ऊपर ही देखकर प्रभु को पुकारते हैं। यह प्रभु लोक के अग्रभाग पर स्थित है। तीन भुवन का जो शिखर अर्थात् लोक का अंतिम स्थान है, उससे आगे गति के हेतु का अभाव होने से वे लोक के अग्रभाग पर स्थित हैं।

नित्य प्रकाश—यह प्रभु नित्य है। जो पर्याय प्रभु ने पायी है, जो शुद्ध निर्दोष स्थिति इनकी हुई है, उस पर्याय से यह कभी न गिरेगा अर्थात् उनमें ऐसा ही शुद्ध परिणमन प्रतिसमय निरंतर सदृश चलता ही रहेगा। इस कारण यह सिद्धभगवान नित्य कहा गया है—ऐसा यह सिद्धपरमेष्ठी पुरुष है। हम आपको प्रकाश यहाँ मिलेगा, सत्य-संतोष यहाँ प्राप्त होगा।

बहिर्मुखता में असंतोष का विस्तार—भैया ! अपने आपसे बाहर इन इंद्रियों का मुख करके जो कुछ ज्ञान किया करते हैं, उस बोध में संतोष नहीं मिल सकता है। मान लो, कमा लिया कुछ तो क्या पावोगे उसके फल में? जोड़कर रखा जाएगा दूसरों के लिए ही तो। वे दूसरे सब उतने ही भिन्न हैं, जितने कि लौकिक कल्पना में गैर भिन्न हैं। इन व्यामोही जीवों ने "सब जीवों के कर्म अपने-अपने बने हुए हैं और अपने-अपने उदय के अनुसार वे सुख दुःख, जीवन-मरण पाते है"—इस श्रद्धा को भी खत्म कर दिया है, इस तृष्णा के वश होकर अपने आपके स्वरूप की याद भी खत्म कर डाली। कितना अज्ञान अंधकार है? अपने आपको संसारगर्त से बचाने की करुणा कीजिए। यहाँ कौन शरण है? क्या सार है? किसी भी परद्रव्य से इस आत्मा में कभी संतोष आने को नहीं है। यदि परद्रव्यों के कारण संतोष हो सकता होता तो तीर्थंकर चक्रवर्ती 6 खण्ड की विभूति क्यों त्यागते? भव-भव में अनेक वैभव पाये, अनेक बार राज्यपद पाए, लेकिन आज थोड़े से पैसे पर इतनी आसक्ति होती है, यह तृष्णा नहीं त्यागी जा सकती है। अरे ! इस थोड़े से वैभव को, तृष्णा को त्याग देने में कौनसा अहित होता है? यदि इस धनवैभव की तृष्णा को त्याग दो तो सत्य सुख प्राप्त हो सकता है। यथार्थज्ञान तो रखिये।

आदर्श एवं प्रतिच्छन्द—ये प्रभु जो परिणमन प्राप्त किए हुए हैं, उससे कभी न चिगेंगे। यों ये प्रभु नित्य हैं। ऐसे भगवान सिद्धपरमेष्ठी वे सबके वंदन के योग्य हैं, परमादर्श ये ही हैं, हमें क्या बनना है? ऐसा प्रश्न होने पर अंगुली एक सिद्धपरमेष्ठी की ओर उठनी चाहिए कि मुझे तो सिद्धपरमेष्ठी बनना है। यह सिद्धपरमेष्ठी मेरे हितोपदेश के लिए प्रतिध्वनि की तरह गूंज की तरह हैं। सिद्धपरमेष्ठी को तुम बोलोगे तो वह बोल तुम्हारे पास ही वापिस आये। जैसे किसी पुराने मिट्टी के मठ के अन्दर कुछ शब्द बोलोगे तो उस मठ को आपके उन शब्दों को क्या करना है? आपके वे ही शब्द झाई के रूप में आपके ही कान में वापिस आ जायेंगे—ऐसे ही सिद्ध भगवंत हैं। जो कुछ आप उन्हें

कहेंगे, उन शब्दों का सिद्ध भगवंत को क्या करना है? सो वे तो लौटकर आपके ही आत्मा में गूंज जायेंगे, आपके ही ज्ञान में आयेंगे अथवा आप जो विचार कर बोलोगे, सो आपमें ही रहस्य उतरेगा, आपको ही लाभ होगा। कितना महादानी है यह सिद्धप्रभु? इसके लिए जो कुछ हम कहते हैं, जितना स्तवन करते हैं, जितना गुणों का गान करते हैं, वह सारा का सारा गुणगान वे प्रभु हमें ही सौंप देते हैं। वे प्रभु इतने परम उपेक्षक हैं।

सिद्धस्मरण का बल—भैया ! इन प्रभु की शरण लिए बिना हम शिवपथ में आगे नहीं पहुंच सकते। यदि तुमको मुक्तिकामिनी की चाह है, मुक्तिकन्या से करग्रहण का भाव है तो यह काम बहुत कठिन है। भैया ! इस कारण कठिन काम में सफलता पाने के लिए मजबूत बाराती संग में चाहिए। जैसे कोई लड़की वाला बड़ा तेज हो, कठिन हो, किसी का उसमें वश न चलता हो, जरा देर में मुकर जाए, विमुख हो जाए तो ऐसी बारात में सफलता पाने के लिए छांट-छांटकर मजबूत पहलवान बाराती ले जाते हैं, नहीं तो बिना विवाह के ही बारात लौट आएगी। कठिन काम है। ऐसे ही मुक्तिकन्या के करग्रहण की इच्छा है तो ऐसी बारात सजाकर ले जावो, जिसमें ठोस, मजबूत बाराती संग में हों। ढूंढो ऐसे बाराती, पर एक-दो बारातियों से काम न बनेगा। बड़ा कठिन काम है मुक्तिकन्या से करग्रहण करना। उसके लिए अनेक बाराती चाहिए। ढूंढो खोजो, अहो मिल गए, वे बाराती, ये हैं अनन्त सिद्ध। इन अनन्त सिद्धों को अपने उपयोग में विराजमान करें, इनको बाराती बनावें, फिर उस मुक्ति की चाह करना स्वीकार करें तो उसमें सफलता मिलेगी। ऐसे ये भगवंत सिद्ध परमेष्ठी हम सबके वंदनीय हैं।

त्रिलोकचूड़ामणि—ये सिद्ध परमेष्ठी ज्ञानघन हैं, ठोस ज्ञान से विचलित नहीं हो सकते, इनके निरन्तर सर्वकालों में निरन्तर सर्व अर्थविषयक परिज्ञान रहता है। यह त्रिलोकचूड़ामणि हैं। जैसे एक चूड़ामणि नाम का आभूषण सिर के ऊपर रखा जाता है उत्तम अंग के ऊपर जो आभूषण रखा जाता है वह है चूड़ामणि। ये तीन लोग पुरुष के आकार के है। इसका नीचे का सारा अंग दु:खरूप क्षेत्र से व्याप्त है, नरकादिक रचनाए और इसका मध्य अंग नाभि का अंग कुछ थोड़ा-थोड़ा दु:ख से कम भरा क्षेत्र है, इससे ऊपर का क्षेत्र दु:ख से कुछ परे है, किन्तु इसका जो उत्तम अंग है अर्थात् ग्रीवा के ऊपर का जो अंग है उस अंग के ऊपर जो विराज रहा हो वह ही चूड़ामणि हो गया।

सिद्धों के प्रतिसमय अनन्त आनन्द का अनुभवन—वे सिद्ध प्रभु क्या करते हैं इनका समय कैसे गुजरता है, इनके शरीर नहीं है, कुटुम्ब परिवार नहीं है, कोई बात करने के लिए भी नहीं है। बिल्कुल शरीररहित हैं, कौन बात करे, किससे बात करे, ऐसी स्थिति में सिद्ध परमेष्ठी के दिन कैसे गुजरते होंगे, ऐसी कदाचित् किन्हीं मनचलों को शंका भी हो सकती है। वे सिद्ध प्रभु समस्त ज्ञेय के ज्ञायक हैं और इसी कारण निज रस से लीन हैं। जिनको सर्वांग ज्ञान नहीं होता है वे चलित हो जाया करते हैं। जिन्हें तीन लोक तीन काल की सर्व यथार्थ बातें एक साथ विज्ञप्त हो रही हैं उन जीवों में बाधा किसी कारण से आये तो बतावो? कुछ जानने की इच्छा है और इसे जाना, उसे जाना, इससे आनन्द में बाधा आती है। यह तो क्या करता है? कोई चीज खाने को सामने रखी है, जब तक हम उसके रसज्ञान का अनुभवन नहीं कर पाते हैं तब तक तड़फते हैं। हाँ जितने भी हमारे तड़फन हैं वे ज्ञान की कमी के कारण तड़फन हैं। जब मौलिक त्रुटि होती है तो रागद्वेष मोह ये सबके सब असार हो जाते हैं। यद्यपि मोह, राग, द्वेष ये दु:खों की खान हैं तो भी इन विभावों की दाल तब गल पाती है जब इस प्रभु में ज्ञान की न्यूनता की कमी की त्रुटि देख पाते हैं। वे समस्त ज्ञेय के ज्ञायक हैं, अतएव अपने आनन्द रस में लीन हैं। वे अपने स्वरूप में ही वास करते हैं।

यों यह प्रभु परे हैं। उनको किसी भी शब्द में बांधा जाय तो वह भी एक पक्ष बन जाता है अच्छा जरा विचार कर लो और कुछ शब्दों द्वारा सिद्धप्रभु का गुणगान कर लो। ये प्रभु जिन कहलाते हैं। जिन्होंने रागद्वेषादिक शत्रुवों को जीत लिया है वे जिन हैं। लो कह तो रहे हैं निष्पक्ष प्रभु का स्वरूप, पर ज्यों ही शब्द द्वारा बाँध दिया त्यों ही एक जिनधर्म नामक पक्ष हो गया। यह प्रभु शिव है कल्याणमय है। सर्व प्रदेशों में, सर्वगुणों में एक आनन्द ही आनन्द का प्रकाश है। उन्हें शिव कहेंगे, शब्द से बांधेंगे तो वह भी एक पक्ष प्रसिद्ध कर दिया गया। यह प्रभु निरन्तर अपनी सृष्टियों को रचता चला जाता है, उसकी यह रचना ज्ञान द्वारा भी निरन्तर होती रहती है। हम आपका उपयोग प्रतिसमय नई-नई जानकारी नहीं कर सकता और नया-नया अनुभवन नहीं कर सकता। अन्तर्मुहूर्त तक हमारे उपयोग की धारा बहती है तब कोई वस्तु हमें ज्ञान में गृहीत होती है। किन्तु सिद्ध परमेष्ठी का यह ज्ञान परिणमन इतना निर्मल है कि वे प्रतिसमय अपना पूर्णज्ञान करते चले जाते हैं। यह ब्रह्मा है, ऐसी शुद्ध सृष्टि पर इसका पूर्ण अधिकार है। अरे शब्दों में बांधा तो वह भी एक पक्ष बन जाता है।

शब्दों का अबन्धन—सिद्ध प्रभु का ज्ञान समस्त लोक में व्यापक है और इतना ही नहीं समस्त अलोक में भी व्यापक है। अरहंत प्रभु की स्थिति में जब इसके केवलीसमुद्घात हुआ था और लोकपूरण अवस्था हुई थी, उस समय ये प्रदेशों से भी व्यापक थे, किन्तु लोक के बाहर एक प्रदेश भी नहीं जा सके थे। लोकपूरण समुद्घात में परमात्मा के प्रदेश व्यापक बनते हैं और वे लोक में ही व्यापक रह सकते हैं, लोक के बाहर नहीं, किन्तु परमात्मा का ज्ञानलोक की सीमा को भी तोड़कर अनन्त अलोक में पहुंच गया। इतना व्यापक यह ज्ञानपुञ्ज है। यह विष्णु है। अहो इस ज्ञानपुञ्ज की महिमा को जब शब्द से बाँध दिया तो वह भी एक पक्ष बन गया। यह सिद्ध भगवंत स्वयं पापों से सर्वथा दूर हैं और इनका जो स्मरण करते हैं, अभेद भाव से वंदन करते हैं वे भी समस्त पापों से दूर हो जाते हैं। अहो यह ऐसा अनुभव हरि है, इसकी इस विशेषता को जहां शब्द से बांधा वहाँ ही लोक में पक्ष बन गया।

सिद्धशुद्धस्वरूपसंदर्शनसंदेश—भैया ! तुम तो शब्दों के जाल से परे होकर केवल उस सिद्ध प्रसिद्ध विशुद्ध स्वरूप को ही निहारते रहो, शब्द जाल का फसाव मत बनावो। अब अधिक वचन बोलना बेकार है। उस सिद्ध का प्रसाद सिद्धि का सर्व उपाय है। ऐसा निर्णय करके इस परम आदर्शरूप सिद्ध भगवान के गुणों में दृष्टि बनावो जिससे स्वभाव तक पहुंच हो और अपने स्वभाव में स्थिति हो।

सकलकर्मविनाश—भगवान सिद्ध परमेष्ठी के अष्टकर्मों का विनाश हुआ है। यद्यपि विनाश शब्द सुनकर कुछ चौंक यों हो सकती है कि जो सत् पदार्थ है उसका तो कभी विनाश होता ही नहीं है, फिर इन कर्मों का विनाश कैसे हो गया? तो कर्म पर्याय जिसमें प्रकट हुई है ऐसे परमाणुवों के स्कंधों के स्पर्श की बात नहीं कह रहे हैं किन्तु कार्माणवर्गणा में जो कर्मत्व है उसका अभाव हो गया है। इसका ही मतलब है कि कर्मों का विनाश हो गया है यों ही उनके शरीर का भी विनाश है तो उसका भी यही अर्थ है कि जो शरीर के परमाणु स्कंध हैं वे अब शरीररूप नहीं रहे, बिखर करके कपूर की तरह उड़ करके फैल गए। फिर उनका आगे कुछ भी हाल हो। आत्मा का सम्बन्ध भी शरीर से नहीं रहा, भावकर्म के नाश की यह बात है कि भावकर्म कोई द्रव्य नहीं है। जैसे कार्माणवर्गणा द्रव्य हैं, शरीर वर्गणा द्रव्य हैं ऐसे भावकर्म कोई द्रव्य नहीं है। वे तो जीव के औपाधिक अवस्था के विभाव हैं। जब जीव में स्वभावपरिणाम प्रकट होता है तो विभावपरिणमन विलीन हो जाता हैं।

सकल कर्मविनाश का साधन—इन सब तीनों प्रकार के कर्मो के विनाश का कारण केवल एक ही अनुभव है—सर्व विशुद्ध ज्ञानमात्र निज तत्त्व का अनुभव होना। यही कर्म नोकर्म और विभाव के विनाश का कारण है। जैसे किसी भी बड़े ढेर के विनाश के कारण जो अग्नि होती है उस अग्नि का मूल कण मात्र है। जैसे इतनी बड़ी रसोई में कितना ही कोयला जल जाता है आग से बहुत काम लेने पर। उस आग की उत्पत्ति में मूल विकास में थोड़े कण ने काम दिया, माचिस की सींक समझो या चकमक के अग्नि कण समझो या किसी दूसरी जगह से आग के कण मांगकर लाये तो उसका थोड़ा पुञ्ज समझो। मूल में थोड़ा ही अग्नि कण होता है, बाद में उसका विस्तार होकर बहुत बड़ा प्रसार हो जाता है ऐसे ही इस मोक्षमार्ग में मूल अनुभव एक विशुद्ध सहज ज्ञायकस्वभाव का अनुभव हे, उस आलम्बन के बाद वह ऐसा दृढ़ हो जाता है, ऐसा विकसित होता जाता है कि अंत में वह केवलज्ञान का रूप रख लेता है।

भगवंतों का आत्मक्षेत्र—भगवंत सिद्ध इस समय उतने आकार में विराजमान् हैं जितने आकार वाले शरीर को छोड़कर वे मुक्त हुए हैं। यद्यपि आत्मा में आकार नहीं होता फिर भी जो कुछ भी द्रव्य है उस द्रव्य के निजी प्रदेश अवश्य होते हैं, आत्मा के उन प्रदेशों का विस्तार कितना है। जिन प्रदेशों में समस्त शक्ति समूह मौजूद है अथवा शक्ति का पुंज ही प्रदेशात्मकता को धारण किए हुए है, वह कितना है? ऐसा जानने के लिए जब इच्छा हो तब उसे यों ही कहना होगा कि जिस शरीर से वे छूटे हैं उस शरीर के परिणाम उनका आकार होता है। प्रश्न—वे शरीर से कम या अधिक क्यों नहीं हो जाते हैं? उत्तर—प्रदेश के विस्तार का और संकोच का कारण आत्मा का सत्त्व नहीं है, आत्मा का स्वभाव नहीं है किन्तु विशिष्ट जाति की कर्मप्रकृतियों का उदय है। अब चूकि नामकर्म प्रकृतियां रही नहीं, अन्य प्रकृतियां रही नहीं जो जिस देह को छोड़कर वे मुक्त हो रहे हैं उस देह के आकार में वे आत्मा हैं। अब वे आत्मा बढ़े या घटे?न कोई बढ़ने का कारण है और न कोई घटने का कारण है, क्योंकि बढ़ने और घटने का कारण प्रकृतियों का उदय था। तो वृद्धि और हानि का हेतु नहीं होने से वे सिद्ध भगवंत जिस देह से मुक्त हुए हैं उसके आकार प्रमाण वहाँ रहते हैं।

आत्मक्षेत्र का शरीरपरिणाम से न्यून परिणाम—सिद्ध प्रमाण चरम देह कुछ न्यून बताया गया है, उस न्यून का अर्थ वह है कि अब भी हमारे आपके शरीर में जो केश बढ़ते हैं या नख निकलते हैं या मक्खी के पर की तरह पतली त्वचा ऊपर है उतने स्थान में जीव के प्रदेश अब भी नहीं हैं। तभी तो नाई मशीन से बाल निकाल देता है, जरा भी दु:ख नहीं होता है और बाल के उखाड़ने में दु:ख होता है क्योंकि बाल के उखाड़ने में तो भीतर का सम्बन्ध है और बालों को बताया है कि खून का मल है, नखों को बताया है कि हड्डी का मल है। कैसे फोड़कर निकला है यह हड्डी का मल? जो बाहर निकले है उनमें जीव के प्रदेश नहीं हैं, तभी तो नख काट लेते हैं तो दु:ख नहीं होता है। यों ही कभी चलते हुए में किवाड़ की कहीं हल्की सी खरोंच लग जाय जिससे केवल मक्खी के पर बराबर पतली त्वचा ही घिसे तो उसमें भी वेदना नहीं होती है। तो जितनी जगह में कुछ भी प्रदेश नहीं है, अब भी उतना न्यून है। हमारे आत्मप्रदेश उस दिख जाने वाले शरीर से अब भी कुछ कम हैं। जितने हैं उतने ही परिणाम भगवान सिद्ध के प्रदेश का आकार रहता है।

सिद्ध परमेष्ठी का आदर्श स्वरूप—भैया ! सब तरह से सिद्ध परमेष्ठी को पहिचान कर प्रयोजनभूत तत्त्व पहिचानो तो उनका गुणविकास है स्वभाव है। वे कितने ही फैले हुए है, इतना ज्ञान करने का असर हमारे अध्यात्म में

नहीं पड़ता है, वे लोक के अग्रभाग पर स्थित हैं, इतना जानने में हमारे अध्यात्म का आंतरिक प्रभाव नहीं पड़ता है। जितने चाहे वे सब परिज्ञान सहायक हैं, किन्तु सिद्ध भगवान कैसे विकास वाले हैं ऐसा उनके गुण और स्वभाव के उपयोग से ही परिज्ञात होता है। प्रभु के स्वभाव का परिज्ञान होने से अपने आपके स्वरूप का भान होता है। सर्वोत्कृष्ट सर्वथा चरम विकास वाले परमेष्ठियों का सिद्ध नाम क्यों है? इसका उत्तर सिद्ध शब्द से ही मिल जाता है।

सिद्ध शब्द का प्रथम व द्वितीय अर्थ—सिद्ध का अर्थ है—"सितं दग्धं कर्मइंधनं येन स: सिद्ध:।"जिसने कर्म ईंधन को जला डाला है उसे सिद्ध कहते हैं। जहां आठों कर्म का अभाव हो गया उसे सिद्ध कहते हैं। अथवा सिद्ध शब्द षिधु धातु से बना है।"सेधतिष्म इति सिद्ध:।"जो पुन: लौटकर नहीं आ सकते इस तरह जो चले गये उन्हें सिद्ध कहते हैं। जैसे अपने व्यवहार में जाने चलने के अनेक शब्द है, वह गया, वह भागा, वह चला, वह बमका, कितने ही शब्द हैं। तो उन सब शब्दों में जुदा-जुदा भाव ध्वनित होता है। इसी तरह इस 'षिधु'धातु से यह भाव ध्वनित होता है कि जो ऐसा चला गया कि फिर लौटकर न आये उसे सिद्ध कहते हैं। भगवान चले गए, अब वे लौटकर न आयेंगे।

सिद्ध का तृतीय अर्थ—अथवा सिध धातु सिद्धि अर्थ में है। 'सेवति सिद्धयतिष्म'अर्थात् 'निष्ठिताथे: अभवत् इति सिद्ध:।'जिसका प्रयोजन पूर्ण हो चुका है अर्थात् कृतकृत्य होकर जिसने करने योग्य काम सब कर लिया है उसे सिद्ध कहते हैं। अब बतलावो सिद्ध प्रभु को करने के लिए क्या है? पूर्ण ज्ञान का विकास है, पूर्ण आनन्द का प्रसार है, करने को कुछ रहा है क्या अब? वास्तव में यहाँ भी बाह्य में हम आपके भी करने लायक कुछ नहीं है। क्या करें? मकान बनाया, प्रथम तो बना ही नहीं सकते। मान लो वह बन गया तो उस मकान के बन जाने से आत्मा को कौनसी सिद्धि हो गयी? यह मकान बना और मरकर चले गये पचास, सौ राजू दूर कहीं पैदा हो गये, किसी अन्य भव में पैदा हो गए तो अब क्या रहा? यहाँ का कुछ भी किस काम आया परभव में, तो काम क्या आये इस भव में भी यह पुद्गल प्रसंग काम नहीं आता है।

सिद्ध का चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ व सप्तम अर्थ—सिद्ध का एक अर्थ यह भी है 'सेधतिष्म शास्ता अभवत्'जो हितोपदेशी हुए थे उसे सिद्ध कहते हैं। जितने भी सिद्ध परमेष्ठी हैं वे सिद्ध से पहिले अरहंत अवस्था में थे। कोई भी साधु सीधा सिद्ध नहीं हो सकता। अरहंत अवस्था में वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेश करते थे। तो सिद्ध शब्द से वर्तमान और पूर्व की विशेषताए विदित होती चली जा रही हैं। अथवा एक सिद्ध धातु है वह मंगल अर्थ में आती है। जिसका अर्थ यह निकलता है—जिसने मंगलरूप का अनुभव किया था उसे सिद्ध कहते हैं। वह मंगलस्वरूप क्या है। शुद्ध आनन्दस्वरूप। जीवों का कल्याण हो, जीवों का मंगल हो, इसका भाव क्या है कि जीव शांति, संतोष, आनन्दपूर्वक रहें। तो मंगल कहो, कल्याण कहो, आनन्द कहो जो आनन्द स्वरूपता का अनुभव कर रहे हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं अथवा सिद्ध शब्द का पूर्ण अर्थ है जो सदा के लिए शुद्ध हो चुके हैं अर्थात् अनन्त काल तक के लिए जो पूर्ण हो चुके हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं अथवा सिद्ध का अर्थ प्रसिद्ध है—भव्य जीवों के द्वारा जो प्रसिद्ध हुए हैं, भव्य पुरुषों के हृदय में जिनके गुण उपलब्ध हैं ऐसे निर्मल आत्मा को सिद्ध कहते हैं। जीवों की उत्कृष्ट, शुद्ध और हितरूप अवस्था यह ही सिद्ध अवस्था है।

सिद्ध वन्दना—सिद्ध प्रभु ज्ञानपुञ्ज हैं, उनके शरीर नहीं है, अन्य कोई समागम नहीं है, मात्र ज्ञानानन्द का शुद्ध विकास है। बाहरी किसी भी पदार्थ का वहाँ सम्बन्ध नहीं है। ये प्रभु तीन लोक के शिखर पर विराजमान् हैं। अंतिम

पाये हुए शरीर के आकार उनके प्रदेश हैं, नित्य शुद्ध हैं, अनन्त हैं, सर्व प्रकार की बाधावों से रहित हैं। ऐसे सिद्ध भगवंतों को मैं सिद्धि के अर्थ नमस्कार करता हू। इस प्रकार सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप का वर्णन करके अब आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप कहते हैं।

गाथा 73

पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिद्दप्पणिद्दलणा।
धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति।।73।।

आचार कुशल आचार्यपरमेष्ठी—जो पंच आचारों से परिपूर्ण हैं, पंचेन्द्रियरूपी हाथी के मद को दलने वाले हैं धीर और गुणगम्भीर हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं। आचार्य परमेष्ठी का साधारणतया यह लक्षण है कि जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन 5 आचारों के पूर्णतया पालने में पूर्ण कुशल हैं और अन्य साधुजनों को इन पंच आचारों का पालन कराते हैं उन्हें आचार्य परमेष्ठी कहते हैं। आचार्य परमेष्ठी के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि उनके 36 मूल गुण होते हैं—5 आचार, 5 महाव्रत, 5 समिति, 3 गुप्ति, 12 प्रकार के तप और 6 आवश्यक अथवा महव्रतसमिति के स्थान में 10 धर्म लें, यों 36 उनके मूल गुण बनाये हैं, किन्तु एक दृष्टि से देखो तो जिस कला के कारण वे आचार्य कहलाते हैं उस दृष्टि से इनके 8 महागुण हैं।

आचार्य में महागुणों की विशेषता—36 प्रकार के गुण वे तो हैं ही साधु के नाते। जितने साधु हैं सभी साधुवों में ये 36 गुण होने चाहियें। क्या उन साधुवों को तप न करना चाहिए, व्रत न करना चाहिए? करना चाहिए, तो वे सब एक सर्व श्रमणों में साधारण हो गए। हाँ इतनी विशेषता है कि साधुवों के चारित्र से आचार्य के चारित्र में कुछ दृढ़ता है और वे दूसरों से पालन भी कराते हैं किन्तु दृढ़ता भी किन्हीं-किन्हीं साधुवों में आचार्यों से भी अधिक होती हैं तप आदिक के पालने में। खैर, ये 36 मूल गुण हैंजिनका प्रसार अन्य साधुजनों में करते हैं उनका प्रसार जब आचार्य महाराज भली प्रकार करें तब ही तो करा सकते हैं। इस कारण 36 मूल गुण बताये हैं, किन्तु आचार्यत्व जिस कारण से होता है उस दृष्टि से आठों भी गुण सुनिये। पहिला गुण है आचारवत्व, दूसरा आधारत्व, तीसरा व्यवहारवत्व, चौथा प्रकारत्व, पांचवां गुण है आयापायविदशित्व, छठवां गुण है अपरिश्रावित्व, सातवां गुण है अवकीर्णकत्व, आठवां गुण है निर्यापकत्व। ये बातें जरा प्रसिद्ध नहीं हैं। इस कारण सुनने में ऐसा लगता होगा कि यह कोई नई बात बतायी जा रही है। आचार्य के ये 8 महागुण होते हैं, यह शास्त्रयुक्त है और इन 8 विशेषतावों के कारण वे आचार्य कहलाते हैं। इन गुणों से युक्त आत्मा के आचार्यत्व होता है।

आचार्य का आचारवत्त्व गुण—5 प्रकारों के आचारों का स्वयं निर्दोष पालन करना, अन्य साधुवों को पालन कराना, यह है आचार्यत्व। जितनी 36 प्रकार की बातें बतायी हैं वे सब एक दो गुणों में आ गयीं। चारित्राचार में 5 महाव्रत, 5 समिति, 3 गुप्ति आ गयी, तपाचार में 12 प्रकार का तप आ गया। 5 आचारों में 5 आचार हैं ही और आवश्यक भी उन्हीं में गर्भित हो गए। यों एक आचारवत्त्व गुण ने सबको प्रतिष्ठित कर दिया। अब और विशेषता सुनिये।

आचार्य का आधारवत्त्व गुण—दूसरा गुण है आधरवत्व। आचारांग आदि श्रुत का विशेष धारक हो उसे कहते हैं आधारतत्त्व। जैसे आपने एषणासमिति में और अन्य समितियों में भी साधु का स्वरूप सुना था और यह बात प्रकट की होगी अपने आपमें कि वास्तव में साधु कैसा होना चाहिए? अब आप यह बात देखें—वास्तव में आचार्य कैसा होना चाहिए? जिसके अन्दर ये 8 महागुण प्रकट हों वे आचार्य कहलाते हैं। दूसरा गुण है श्रुत की विशेषता। कुछ तो श्रुत की विशेषता हो। जो उपाध्यायों पर भी कन्ट्रौल करते हैं ऐसे आचार्य का कैसा ज्ञान होना चाहिए? कुछ कल्पना तो करिये।

आचार्य का व्यवहारित्व गुण—तीसरा गुण है आचार्य का व्यवहारित्व। प्रायश्चित शास्त्र की विधि जो जानते हो और उसके अनुसार व अपने ज्ञानबल के अनुसार दूसरों को यथार्थ प्रायश्चित देने की जिनमें क्षमता वे होते हैं व्यवहारी आचार्य। प्रायश्चित का देना बहुत बड़ा काम है। शिष्य की शक्ति, शिष्य में अंतरंग कलुषता व द्रव्य, क्षेत्र, काल का वातावरण सबका विचार कर ऐसा प्रायश्चित्त देना जिससे कि आत्म शुद्धि बढ़े, वह आगे न उद्दण्डता कर सके और न संक्लेश कर सके। ऐसा प्रायश्चित्त देने की सामर्थ्य जिसमें हो उसे कहते हैं व्यवहारवान्।

आलोचना की पद्धति—कैसे आलोचना की जाती है, कैसे प्रायश्चित्त दिया जाता है? दूसरी पूरी कला तो योग्य शिष्य और योग्य आचार्य में होती है। पर साधारणतया तो जानें कि शिष्य अन्यत्र वातावरण में एकांत स्थान में शुद्ध स्थान में जिसके आसपास अपवित्र चीज न हो, अत्यन्त कुंठित न हो ऐसे शुद्ध स्थान में गुरु से शिष्य अपनी आलोचना करता है, उसे सुन लेता है, आचार्य पर उस पर प्रथम विशेष ध्यान नहीं देता। ध्यान मानों इसलिये नहीं दिया कि शिष्य को यह ज्ञात रहे कि अभी हमारे गुरु महाराज ने हमारे प्रतिवेदन को भली प्रकार सुना नहीं है। आप देखते जाना कितना रहस्य है और इसमें कितना राज साही तेज प्रकट है आचार्यों में? फिर समय पाकर दूसरी बार आलोचना करता है। कोई दूसरी बार को ही तो आलोचना समझे तो आचार्य सुन लेते हैं और उसका विधान दे देते हैं और न समझे तो वे फिर उपेक्षा कर जाते हैं, वह फिर तीसरी बार आलोचना करता है और उस तीसरी बार की आलोचना में वह इतने प्रताप के साथ सुनता हे कि जैसे सिंह के सामने मांस खाया हुआ स्याल हो तो वह स्याल मांस को उगल देना है। ऐसा ही प्रताप आचार्य महाराज का होता है कि शिष्य ने जो दोष छिपा रक्खा है आचार्य के सामने आलोचना करते हुए में, सब प्रकट कर देता है।

शुद्ध आलोचना का कारण—प्रथम तो यह बात है कि वह शिष्य स्वयं कल्याणार्थी है। वह चाहता है कि मैं दोषों का कोई भी भार न छुपाऊं क्योंकि फिर मुझे मोक्षमार्ग में बाधा रहेगी।

उसे तो कल्याण चाहिए। सो शिष्य ही कोई बात छिपाता नहीं है, पर कदाचित् छिपाये तो आचार्य का इतना प्रताप हे कि वह छुपा नहीं पाता है, फिर आचार्य सोचकर उसे प्रायश्चित्त देते हैं। कौन शिष्य कैसा है, किस योग्य है, कैसा ज्ञानबल है, किस ओर उसका मुड़ाव हैं? सब बात आचार्य की यथार्थ विदित रहती हैं और उसके अनुसार वे प्रायश्चित्त देते हैं। वहाँ शिष्यजन यह शंका नहीं करते कि यह दोष तो इसने किया है, मुझे तो आचार्य महाराज ने बड़ा दण्ड दिया। यह दोष इसने किया, इसने बहुत ही कम प्रायश्चित्त किया। जो आचार्य प्रायश्चित्त देते हैं उसे शिष्य प्रमाणभूत मानते हैं।

योग्यतानुसार प्रायश्चित्तप्रदान—एक लौकिक कहानी है कि एक बार तीन चोरों ने चोरी की। उनमें एक बड़ा सज्जन था और पहिला ही दिन था चोरी करने का। उस दिन किसी कारण से उन चोरों के संग में हो गया था, तो कुछ दिन मामला सुनने के बाद न्यायाधीश ने उन तीनों चोरों को तीन तरह के दण्ड दिये। एक को कहा कि तुमने बहुत बुरा काम किया तुमको ऐसा न करना चाहिए था, ऐसा कहकर छोड़ दिया। एक चोर को एक साल की सज़ा दे दी। एक चोर को यह दण्ड दिया कि इसका मुह काला करके गधे पर बैठालकर नगर में घुमाया जाय। लोग सुनकर सोचने लगे कि एक ही तरह की चोरी एक ही तरह का अपराध और तीन तरह के दण्ड क्यों दिये? अब दण्ड के बाद समझ में आयेगा। जिसको यों ही छोड़ दिया गया कि यह कहकर कि धिक्कार है तुमने बुरा काम किया, सो उसके इतनी लाज लगी कि वह घर में आकर कोठरी में छुपकर हवा बंद में पड़ा रहा जिससे दम घुटकर मर गया। एक चोर तो जेल में हे ही, और उसका किस्सा सुनो जिसका मुह काला करके गधे पर बैठाल कर नगर में घुमाया जा रहा था। वह चला जा रहा है मजे में। जब उसका घर पड़ा सामने तो स्त्री भी देखती है। सभी लोग देखना चाहते हैं। विचित्र तो ढंग है, वह पुरुष गधे पर बैठा हुआ ही अपनी स्त्री से चिल्ला कर कहता है कि अरे पानी गरम करके रखना, थोड़ा और घूमने के लिए नगर रह गया है। देख लो उसका काला मुह करके गधे पर बैठाल कर घुमाना भी कम दण्ड हैं तो आचार्य महाराज सब शिष्यों की बात परखते है—किसको किस तरह का प्रायश्चित्त देना चाहिए? इतनी योग्यता जिसमें पड़ी हो वह आचार्य हो सकता है, अन्य कोई नहीं हो सकता है। आचार्य होना इन 8 गुणों के आधार पर है, जिसमें यह तीसरा गुण बताया है।

आचार्य का प्रकारकत्व गुण—चौथा गुण है प्रकारकत्व। सर्व संग की वैयावृत्ति करने की विधि का परिज्ञान हो और वैयावृत्य करने की जिनमें कला हो उसे प्रकारक कहते हैं। जो स्वयं वैयावृत्ति करने में संकोच न रखे स्वयं करे तो शिष्य लोग भी करेंगे और स्वयं यदि आर्डर देता रहेगा और खुद कुछ भी प्रयोग न करे उनका शासन नहीं बन सकता है। यह शासन वात्सल्य का शासन है। तो वैयावृत्ति करने की विधि का परिज्ञान और वैयावृत्ति करने की उत्तम कला हो उसका नाम प्रकारकत्व गुण है।

आचार्य का आयापायविदशित्व गुण—5 वां गुण होना चाहिए आचार्य में आयापायविदशित्व। किसी भी कार्य की हानि हो, किसी भी कार्य में लाभ हो उसके बताने की जिसमें क्षमता है वह होता है आयापायविदर्शी। आचार्य महाराज लाभ अलाभ की बात जान जाते हैं। अकम्पनाचार्य मुनि महाराज, जो कि 700 मुनियों के आचार्य थे, जान लिया था उज्जैन नगर में कि यहाँ बड़ा उत्पात होने को है, यदि पहिले उपयोग दिए होते इस ओर तो उस स्थान पर ही न जाते, क्योंकि संघ सहित थे। जब जाना तब सबको आज्ञा किया कि सब लोग मौन रहें। तो लाभ जानना, हानि जानना, उससे बचने का उपाय जानना, यह बात जिनमें विशेषता से पायी जाती है वे आचार्य होते हैं।

आचार्य का अपरिस्रावित्व गुण—7 वां महागुण है आचार्य में अपरिस्रावित्व। आचार्यमहाराज में इतनी उदारता होती हे कि कोई शिष्य कैसी ही आलोचना करे, उसके उस कथन को, दोष को यों पी जाता है अर्थात् किसी को प्रकट नहीं करता। जैसे बहुत तपे हुए तवे पर बूद गिरती है तो फिर उस बूद का कहां पता रहता है? जैसे वह बूद सूख जाती है इसी तरह की गम्भीरता आचार्य परमेष्ठी में होती है कि कोई भी दोष बताए, आचार्य महाराज कहीं भी बताते नहीं है, क्योंकि यदि बता दें तो उससे कितनी ही हानियां हैं? प्रथम तो यह बड़े के अनुरूप बात नहीं है कि

किसी के दोष को प्रकट करे, कहे और कर दे प्रकट तो पहिले तो संग में रहने वाले मुनियों की आस्था आचार्य से हट जायगी, फिर अन्य कोई उनसे आलोचना न करेंगे। यों फिर वे आचार्य नहीं रह सकेंगे। नाम के लिए चाहे कोई भी आचार्य नाम धरा ले। मान लो कोई मुनि अकेले हैं, 10, 20, 50 श्रावकों से कहलाकर चाहे अपने को आचार्य कहलवा लें, लो बन गए आचार्य, यों आचार्यत्व नहीं मिलता। आचार्यत्व होने में इतने सब गुण होने चाहियें, दोष प्रकट कर दे तो कहो शिष्य संक्लेश के मारे अपघात कर डाले और अपना अकल्याण कर ले। शिष्य का इससे क्या भला हुआ और संघ का इससे क्या भला हुआ? संघ के समस्त मुनियों की उनसे आस्था हट गयी।

आचार्य का निर्यापकत्व गुण—8 वां गुण है निर्यापकत्व। शिष्यों का निर्यापन करना। शिष्य ने जो आराधना धारण की है उसकी यह आराधना अंतिम समय तब चले और उस समाधि का समता का आश्रय पाकर शिष्य पार हो जाय, ऐसी उपाय करना ऐसी जिसमें क्षमता हो, वह निर्यापक कहलाता है। ऐसे 8 महागुणकरि सम्पन्न जो साधु परमेष्ठी होते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं।

आचार्यदेव की संवेगनिष्ठता—ये भगवान आचार्य ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य—इन 5 आचारों से परिपूर्ण हैं और पंचेन्द्रियरूपी मदांध हाथी के दर्प को दलने में समर्थ हैं अर्थात् विषयों की आशा के रंच भी वश नहीं है। सारी बात लगन की होती है। लगन हुए बिना धर्म का कोई कार्य किया जाय, कोई भेष रखा जाय उससे कुछ भी सिद्धि नहीं होती है। जिसकी लगन शुद्ध ज्ञायकस्वरूप के शुद्धविकास की ही लग रही हो उसके लिए ये सरस आहार सब विरस लगते हैं। उनको तो रस अपने दर्शन ज्ञान स्वभाव की अनुभूति में आता है। लगन की बात है। इसकी लगन जिसे नहीं है वह इसके रहस्य को क्या पहिचान सकता है? यों ही समझ लीजिए सांसारिक कार्यों में जिसको जिस बात की तृष्णा हो गयी है, जिसकी जिसे लगन हो गयी है उसे अन्य कुछ नहीं सूझता। उसको तो केवल अपने लक्ष्य की बात ही सूझती है। तो लगन में यह प्रताप प्रकट होता है कि उसे बाकी बातें सब नीरस मालूम होने लगती हैं। उसको निज में लीन होने वाली बात ही सरस लगती हैं।

सकलसंन्यासियों की विषयातीतता—जिन महाभाग निकट भव्य मुनिराज को केवल एक शुद्ध ज्ञानमात्र रहने की स्थिति की लगन लगी है, जो ज्ञाताद्रष्टा रहने का ही यत्न करते हैं, रंच भी राग और द्वेष हो तो उसे अपना अपाय समझते हैं उनको ये आहार आदिक कैसे रुच सकते हैं? साधुजन ध्यान तपस्या में लीन हैं। कोई कीड़ी, बिच्छू, स्याल, चूहा कुछ भी भख रहा हो, काट रहा हो तो वे भी अपने आत्मस्वरूप से नहीं चिगते हैं। क्या उनके हाथ में इतना बल नहीं है कि उन्हें वे अपने हाथों से हटा सकें? अरे उनमें तो इतना बल है कि बड़े-बड़े सिंहों को भी अपने भुजावों के बल से हटा दें, पर वे अव्यग्र होकर ध्यान में लगते हैं। चक्रवर्ती भी तो मुनि हो जाते हैं, कोटि बलधारी भी तो मुनि बन जाते हैं, लेकिन उन्हें ज्ञाता द्रष्टा रहने की स्थिति से इतना पूर्ण अनुराग है कि वे इन विकल्पों को भी पसंद नहीं करते। वे इस देह के राग को अथवा डसने वाले इन कीट आदिक के द्वेष को रंच भी पसंद नहीं करते। जानते हैं कि रागद्वेष के विकल्पों से अकल्याण ही है। वे अपने ज्ञाता द्रष्टा रहने के यत्न में बाधा नहीं डालते हैं। इतनी जिसमें दृढ़ता है वह पुरुष इन्द्रिय के विषयों के क्या आधीन हो सकता है? वह इन्द्रिय विषयातीत है, ऐसा दृढ़ पुरुष आचार्य परमेष्ठी होता है।

आचार्यदेव की पंचाचार समग्रता—आचार्य परमेष्ठी सम्यग्दर्शन आचरण में याने सम्यग्दर्शन के परिणमन में युक्त रहते हैं और अन्य साथियों को भी उसमें लगाते हैं, इस कारण आचार्यों का यह दर्शनाचार दृढ़तापूर्वक पलता है, ऐसा ही सम्यग्ज्ञान के विषय में आचरण करते हैं अर्थात् ज्ञानस्वरूप में अपना उपयोग लगाते हैं और अन्य साधुवों को सम्यग्ज्ञान में प्रयुक्त करने का उद्यम करते हैं। इस कारण उनका यह ज्ञानाचार मूल गुण है। चारित्र के सम्बन्ध में भी वे स्वयं आचरण करते हैं और दूसरों को भी आचरण का उपदेश करते हैं। वास्तविक सम्यक्चारित्र है अनादि अनन्त अहेतुक निर्दोष चित्स्वभावमय अपने स्वरूप में उपयोग रखने के बल से योगों को चेष्टा रहित कर देना। ये आचार्य परमेष्ठी अनशन आदिक 12 प्रकार के तपों में भी स्वयं लगते हैं और अन्य साधुवों को भी लाभप्रद उपदेश से लगाते हैं। इस कारण उनके यह तपाचार एक मूल गुण है, यों ही सर्व प्रकार के आचरणों के करने में अपनी शक्ति को न छिपाना, अपनी शक्ति अनुसार इन आचारों में प्रवृत्ति होना इसका नाम है वीर्याचार। ऐसे ये संत पाँच आचारों करि के सहित हैं।

आचार्य परमेष्ठी की विषयों से परमोपेक्षा—ये आचार्यदेव पंचेन्द्रिय के विषयों के वश नहीं हैं। जिनका भूमि पर शयन होता हैं भूमि पर जिनका आसन है, जिन्हें किसी भी कोमल पदार्थ पर बैठने की आकांक्षा तक भी नहीं होती है जो सर्वशृङ्गारों से दूर हैं, वर्षों का मैल शरीर पर लगा हुआ है फिर भी उसे हटाने का ध्यान नहीं रखते हैं, ऐसे साधुजन क्या स्पर्शन इन्द्रिय के वश होंगे? जो निज ज्ञानरस के अनुभव में लीन रहा करते हैं, उत्कृष्ट शुद्ध परमानन्द जिनके प्रकट हो रहा है ऐसे साधुजनों को रसना इन्द्रिय के विषयसेवन से क्या प्रयोजन? घ्राणेन्द्रिय के विषय की तो चर्चा ही क्या करें? जो साधुजन अपवित्र वस्तुयें दिख जायें तिस पर भी नाक तक नहीं सिकोड़ते हैं ऐसे पुरुषों को सुगंधित तेल या किसी भी वस्तु के सूघने की इच्छा नहीं हो सकती है। जिनके नेत्र भगवंत के दर्शन के लिए ही उत्सुक हैं, जिन वचनों के, शब्दों के सुनने के लिये उत्सुक हैं वे पुरुष इन नेत्रों से विषयों के पोषक पदार्थों को क्या निरखेंगे? एक बार तो कुछ दिखने में आ जाता है किन्तु दुबारा उस रम्यरूप के देखने की यदि चेष्टा है तो समझो वह अपने पद से चलित हो रहा है। जो सत्य धर्म के वचन सुनने की ही भावना बनाये रहते हैं, जो धार्मिक, आध्यात्मिक, भक्तिविषयक शब्द ही सुनना चाहते हैं अथवा जो सभी प्रकार के इन्द्रियों के संयम की वाञ्छा रखते हैं, जो गुप्ति के पालने में अभिलाषी रहते हैं ऐसे पुरुष संतजन किस विषय की अभिलाषा करेंगे? जैसे कोई वीर मदांध हस्ती के घमंड को दलित कर देता है ऐसे ही ये मोक्षमार्ग के वीर साधुपुरुष पंचेन्द्रिय के मदांध हस्ती के दर्प को दलित कर देते हैं।

धीरता और गम्भीरता—ये परम पुरुष आचार्य परमेष्ठी धीर और गम्भीर हैं। समस्त कठिन उपसर्गों का मुकाबला करने की इनमें धीरता गम्भीरता प्रकट हुई है। धीरता का लोग अर्थ करते हैं गम खाना, घबड़ाना नहीं, यह तो फल है ही, पर धीरता का शाब्दिक अर्थ यह है 'धीं बुद्धिं राति ददाति इति धीर:'जो बुद्धि को दे उसे धीर कहते हैं। धीर के भाव का नाम है धीरता। बुद्धि को स्वस्थ बनाने वाली बात है समता। किसी भी पदार्थ में राग अधिक हो जाय तो बुद्धि अव्यवस्थित हो जाती है। किसी प्रकार किसी भी पदार्थ में द्वेष बढ़ जाय तो बुद्धि अव्यवस्थित हो जाती है। जगत् के प्राणी जो अनादि से अब तक भटक रहे हैं इसका कारण है परपदार्थ रागद्वेष और उस रागद्वेष का कारण है व्यामोह जरा अपनी ओर दृष्टि करके निहारो यह तो मात्र ज्ञानस्वरूप है। अपने आपके अन्तर में आकर निरखो

केवलज्ञानप्रकाश मात्र है, शरीर तक से भी सम्बन्ध नहीं है। इस निज स्वरूप की ओर दृष्टि आये तो वहाँ न कोई रोग है, न कोई कमजोरी है, न कायरता है, न व्यग्रता है, न चिंता है। चित् स्वभाव की दृष्टि ही परम औषधि है। जो सदा के लिए रागमुक्त होना चाहते हैं उन्हें इस चित्स्वभाव की दृष्टिरूप परम औषधि चाहिए। मोह एक कठिन रोग है। निर्मोहता ही इस रोग को हरने वाली अमोघ औषधि है। निर्मोहता परिणाम से ही धैर्य प्रकट होता है और गुणों में गम्भीरता आती है अर्थात् परिपूर्ण होकर ज्ञाताद्रष्टा रहे ऐसी गम्भीरता इस आचार्य परमेष्ठी में होती है। ये आचार्यपरमेष्ठी किसी शिष्य के दोष को निरखकर अथवा अन्य प्रतिकूल चेष्टावों को देखकर अधीर नहीं हो जाते हैं, बल्कि गम्भीर होते हैं।

आचार्य का शुद्ध शासन—कल्याणार्थी शिष्य आचार्य की उपेक्षा देखें अपने प्रति तो इसका वे महा दण्ड समझते हैं और इसी कारण आचार्य परमेष्ठी का यह धर्म शासन निर्वाध चलता है। आचार्य की वाञ्छा नहीं है कि शिष्यों पर शासन करें किन्तु शिष्यों का प्रेम, शिष्यों का विनय और शिष्यों की ऐसी इच्छा है कि मुझ पर मेरे गुरु अप्रसन्न न हों, उपेक्षा न कर जायें, ऐसी भावना यह स्वयं आचार्य महाराज का शासन करवा लेता है। नहीं तो जिसने घर छोड़ा है, वैभव छोड़ा है ऐसे आचार्यदेव को क्या पड़ी है इस घटपट में पड़ने से कि उन साधुवों पर शासन करें, वहाँ व्यवस्था बनायें। आचार्य शासन नहीं करते, उनकी व्यवस्था नहीं बनाते किन्तु शिष्यों का गुण, शिष्यों का विनय, शिष्यों की सद्भावना शासन करवा लेती है। आचार्य परमेष्ठी ऐसे प्रबल सद्भाव के हैं कि अपने आपके मोक्षमार्ग में रंच भी अन्तर नहीं डालते हैं। जैसे साधुजन मोक्षमार्ग में प्रगति करते हैं यों ही आचार्य परमेष्ठी भी मोक्षमार्ग में प्रगति कर रहे हैं और साथ ही सहज भाव से शिष्यों के परोपकार भी उनसे हो जाते हैं, ऐसे लक्षणों वाले ये भगवंत आचार्य परमेष्ठी होते हैं।

पंचाचार समग्रता—देखो इन आचार्य परमेष्ठी को ये 5 प्रकार के आचरण के आचरणों में बहुत कुशल हैं। जैसे स्कूल में बच्चों से कोई काम कराने को होता है, फुलवाड़ी क्यारी वगैरह लगवाना होता है तो कुशल मास्टर अपने आपमें अभिमान की मुद्रा न रखकर स्वयं उसका प्रारम्भ करता है, स्वयं काम करने लगता है तो कुछ थोड़ा सा काम में मास्टर को लगते देखकर फिर वे बच्चे बड़े प्रेम से उस काम को करते हैं। केवल हुकूमत, हुकूमत से बच्चों में वह बात नहीं जग सकती है कि वे अपनी कलावों में निपुणता का काम कर सकें। ऐसे ही आचार्य परमेष्ठी साधुवों से भी अधिक आचार पालन में सावधान रहते हैं अपने आपकी कल्याण प्रवर्तना में और कोई-कोई महा साधु आचार्यों से भी अधिक सावधान होते हैं, पर प्राय: आचार्य परमेष्ठी साधुवों से अधिक सावधान रहते हैं अपने आपके मोक्षमार्ग की वर्तना में। तभी तो अन्य साधुजन स्वयमेव मोक्षमार्ग में योग्य प्रवृत्ति करते हैं।

आचारसमग्रता का मूल भाव—भैया ! आचार निपुणता की ये सब बातें तब हो सकती हैं जब पहिले अपने आपको यों तो समझ लें कि मैं अकिञ्चन हू, अर्थात् मेरे में मेरे स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी चीज का प्रवेश नहीं है, मेरे शरीर भी नहीं है, मेरे इज्जत भी नहीं है, पोजीशन भी मेरी कुछ वस्तु नहीं है, जो प्रशंसा के शब्द बोले जाते हैं उनसे भी मेरा रंच सम्बन्ध नहीं है, में तो अकिञ्चन हू, अपने स्वरूप मात्र हू, मैं जो कुछ करता हू अपने को करता हू, जो कुछ भोगता हू अपने को भोगता हू, मैं केवल हू, ऐसी अकिञ्चनता की दृढ़ श्रद्धा है इस ज्ञानी संत को जिसके कारण यह मोक्षमार्ग का प्रवर्तन चलता है और साधुसंग का यह शासन निर्वाध चलता रहता है।

अव्यवस्थावों का कारण—सर्व अव्यवस्थावों की जड़ कषायभाव है। समाज में, सोसायटियों में, घरों में, धार्मिक गोष्ठियों में किसी भी जगह जब भी विवाद खड़ा होगा तो कषाय के कारण ही खड़ा होगा। और उसमें भी है प्रधान लोभ कषाय। क्रोध यों ही अचानक उठकर नहीं आता है। किसी मानी हुए इष्ट वस्तु में बाधा आये तब क्रोध उत्पन्न होता है। धन में बाधा आये, इज्जत में बाधा आये तब क्रोध उत्पन्न होता है। यह लोभ कषाय का रंग इतना गहरा है कि जिसमें रंगा हुआ प्राणी चिंतित रहता है और व्यग्र रहा करता है, कोई-कोई तो लोभ कषाय का नाम तक नहीं लेते हैं। जैसे किसी गंदी चीज का नाम लेना लोग बुरा समझते हैं ऐसे ही लोभ कषाय का नाम लेना भी कुछ लोग बुरा समझते हैं। लोभ का नाम कहना हो तो आखिरी कषाय यों कहा करते हैं। जैसे कोई मांस खाता था पहिले तो लोग मांस का नाम नहीं लेते थे, कह देते थे कि फलाना गंदी चीज खाता है, मांस का नाम लेना बुरा समझते थे, ऐसे ही लोभ कषाय का नाम भी लेने में कुछ लोग संकोच करते हैं। धन का लोभ हो, इज्जत का लोभ हो, किसी भी बात का लोभ हो तो छल कपट करना पड़ता है। मान भी अपनी इज्जत के लगाव में प्रकट होता है। सब कषायों की सरदार है लोभ कषाय। सब कषायें नष्ट हो जाती हैं। वे गुण कषाय में भले ही यह लोभकषाय अपना रंग अच्छे रूप में नहीं दिखा सके किन्तु लोभ की कुछ न कुछ ऐंठ 10 वें गुणस्थान तक रहती है। जिन साधुजनों ने इन कषाय स्थानों को नष्ट कर दिया है ऐसे आचार्यपरमेष्ठी स्वयं मोक्षमार्ग में बढ़ते हैं और दूसरे शिष्यों को बढ़ाते हैं।

वस्तुपरिचय—इस विवेकी पुरुष के द्रव्य सम्बन्धी परिज्ञान यथार्थ रहा करता है, प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, किसी का किसी से सम्बन्ध नहीं है। सभी का स्वरूपास्तित्व जुदा-जुदा है, किसी स्वतंत्रता की प्रतीति जिसके निरन्तर बनी रहती है वह कैसे व्यग्र होगा? वह गम्भीर है। सबसे महान् वैभव यही है कि वस्तु की स्वतंत्रता की प्रतीति रक्खी जाय। सर्व जीवों का सम्मान करना इसका सहज गुण है, रागद्वेष इस ही स्वतंत्रता की प्रतीति के बल से मिटा करते हैं। यद्यपि कुछ लोग रागद्वेष मिटाने के लिए ऐसे भी उपाय करते हैं, ऐसी भावना बनाते हैं कि जो भी दृश्यमान् पदार्थ हैं वे सब ईश्वर के हैं, वे मेरे कुछ नहीं हैं। उद्देश्य तो ठीक है पर अन्तर में देखें तो वह विविक्तता इसमें नहीं आ पाती है। जो विविक्तता इस प्रतीति में बसी हुई है कि प्रत्येक स्वतंत्र है, एक का दूसरे में अत्यन्ताभाव है। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ में कुछ करता नहीं है, किसी पदार्थ से कुछ निकाला नहीं जा सकता है, ऐसी प्रतीति जब आती है तो इस स्वतंत्रता की प्रतीति वाला भव्य पुरुष यथाशीघ्र निर्दोष शुद्ध एक स्वरूप में रम जाता है।

आचार्यदेव का उपकार—ऐसे समग्र गुण जिनमें मौजूद हैं ऐसे आचार्यों के संसार के क्लेश मिटाने के लिए ये वचन हैं। न होते ये कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्राचार्य आदिक ऋषि तो आज हम आप लोगों को जो साहित्य देखने को मिलता है, कहां मिलता और फिर कल्पना कीजिए कि हम आप कहां भटकते होते? कितना परम शरण मिला है हम आपको? इस दुर्लभ धर्मसमागम को पाकर अब हम आपको क्या चिंता की बात रह गयी? आचार्य महाराज ने जो हम आप सबको दृष्टि दिलाई है उससे मैं अकिञ्चन हू, यों निहार कर विविक्त शुद्ध ज्ञानमात्र आत्मस्वभाव की दृष्टि कर लें तो सारी व्यग्रताए तुरन्त समाप्त हो जायेंगी। जैसे कि पानी में आग के पड़ने से आग शांत हो जाती है ऐसे ही परमोपकारक आचार्य परमेष्ठी को हमारा नमस्कार हो। ये आचार्य परमेष्ठी इन्द्रिय के वश से रहित हैं, अनाकुल हैं, अपने ज्ञान में लीन हैं, शुद्ध हैं, पवित्र हैं, कषाय इनकी उपशान्त हैं, इन्द्रियों का इन्होंने दमन किया है, इनके संस्कार अपने शुद्धस्वरूप में संयत हैं, नियत हैं। यह ही आंतरिक भाव मोक्ष के साक्षात् कारणभूत शुद्ध ध्यान के कारण उनके

होता है। सर्वप्राणियों को दु:ख न उत्पन्न हों ऐसे भावना से वे ओतप्रोत हैं। दया की मूर्ति आचार्य परमेष्ठी का कितना उपकार माना जाय? जिसने बिना स्वार्थ के जगत के जीवों का हित चाहा, ऐसे आचार्य परमेष्ठी को मन, वचन, काय को संभाल कर मेरा नमस्कार हो।

गाथा 74

रयणत्तयसंजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा।
णिक्कंखभावसहिया उवज्झाया एरिसा होंति।।74।।

उपाध्याय परमेष्ठी—इस गाथा में उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप कहा गया है। जो रत्नत्रय संयुक्त हैं, जिन कथित पदार्थों के उपदेशक हैं, अपने आत्महित के मार्ग की प्रगति में शूर हैं, निष्काम भावना करि सहित है ऐसे साधु संत उपाध्याय होते हैं। उपाध्याय परमेष्ठी में ज्ञान की विशेषता है और ऐसे विशिष्ट ज्ञानी साधु को जो आचार्य यह घोषित कर दें कि ये मेरे संग के उपाध्याय हैं तो वे उपाध्याय परमेष्ठी कहलाते हैं।

रत्नत्रय—रत्न कहते हैं सारभूत को, रत्न नाम पत्थर का नहीं है किन्तु शब्दार्थ से यह विदित है कि जो सारभूत हो उसे रत्न कहते हैं। लोगों की निगाह में सारभूत हीरा माणिक लगा इसलिए उसे रत्न कहा—क्योंकि ऐसी कीमती वस्तु परिणाम में छोटी और मूल्यवान् होनी चाहिए। सो वह माणिक ही ऐसा कीमती है। सो लोग उन माणिकों को रत्न बोलने लगे। पर रत्न नाम है सारभूत वस्तु का। अध्यात्म में सारभूत वस्तु है सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र। इसलिए इनका नाम रत्नत्रय है। और किसी-किसी मनुष्य को भी तो कह देते हैं कि इन साहब का क्या कहना है? ये तो रत्न है अर्थात् आप श्रेष्ठ हैं, उपादेय हैं। कहीं उस रत्न का यह अर्थ नहीं है कि वह पत्थर है। तो रत्न का अर्थ है सारभूत रत्नत्रय मायने सारभूत तीन बातें। इन माणिकों से भी सारभूत चीज हैं आत्मा का विश्वास, आत्मा का ज्ञान, आत्मा का चारित्र।

सर्वोत्कृष्ट सारभूत परिणाम—आत्महित की यह बात मात्र कहने सुनने की बात नहीं है, दिल में लगाने की बात है। माणिक में क्या सार है? माणिक ज्यादा सारभूत गेहूं चना है। गेहूं चना में भी सार नहीं है, गेहूं चना को खाते रहें तो यह कुछ नियम है क्या कि जब तक यह मनुष्य रहेगा तब तक इसे गेहूं चना मिलते रहेंगे? रोग भी न होगा, स्वस्थ रहेगा, सम्पन्न रहेगा? सर्वोत्कृष्ट सारभूत है वह परिणाम जिसमें लबालब आनन्द भरा है, रंच आकुलता नहीं है, वह परिणाम है आत्मानुभव का, ज्ञान का, चारित्र का। ऐसे जो रत्नत्रय करि के सहित है वह उपाध्याय है।

उत्कृष्ट रिश्ता—दुनिया में सबसे ऊची सर्वोत्कृष्ट रिश्तेदारी है गुरु शिष्य की। जिसका सौभाग्य हो सो पहिचाने। वेतन लेकर मास्टरी करने वाले गुरु की यहाँ चर्चा नहीं कर रहे हैं। जिनका सम्बन्ध ऐसे राह पर लगा दे कि जिससे अनन्तकाल तक के लिए संसार के संकट मिट जाये, वह सम्बन्ध उत्कृष्ट है। एक कोई कथानक है कि एक गुरु शिष्य थे। जंगल में ध्यान करते थे। गुरु ने एक बार देखा कि एक भयंकर विषधर सांप आ रहा है। वह कई भवों का बैरी होगा गुरु ने जान लिया। गुरु ने जान लिया कि यह कभी न कभी शिष्य की जान लेगा। शिष्य सो रहा था। गुरु ने क्या किया कि अपने उस निवासस्थान के निकट चारों ओर कुण्डली रेखा कर दी और उस शिष्य की छाती पर

बैठकर उसके शरीर से थोड़ा खून निकाला और वह खून सर्प के आगे डाल दिया। सर्प खून पीकर वापिस लौट गया। उस समय शिष्य ने जग कर देखा कि गुरुजी छाती पर बैठे हैं और खून निकाला तो ऐसी स्थिति में शिष्य तो यही सोचेगा कि गुरु हमारी छाती पर बैठे हुए हमारे प्राण ले रहे हैं, परन्तु वह शिष्य गुरु के गुणों से भरा पूरा था। उसके मन में रंच भी शंका न हुई कि गुरु मेरा अनर्थ कर रहे हैं और वहीं वह शिष्य हाथ जोड़े पड़ा रहा। गुरु ने जो कुछ करना था सो किया। इतना विश्वास होता है शिष्य का गुरु के प्रति।

शिष्यों का गुरु पर अगाध विश्वास—आप लोगों का नाई पर कितना विश्वास होता है, वह बाल बनाता है तो आप अपनी गर्दन उसे सौंप देते हैं। वह तो बड़ा पैना छुरा लिए हुए रहता है। आप अपने दोनों हाथ भी पीछे ले जाते हैं, प्रेम से आप उस नाई को अपनी गर्दन सौंप देते हैं। कितना विश्वास है आपको नाई के प्रति? क्या नाई बराबर भी विश्वास न हो गुरु के प्रति और वह शिष्य कहलाये। अतुल विश्वास गुरु के प्रति शिष्य का होता है। पूर्व समय में शिष्य गुरुजनों को अपना सर्वस्व मानते है। तब गुरुजनों का ऐसा प्रसाद मिलता था कि शिष्यों को वे सब बातें जो बड़ी तपस्या, बड़ी साधना के बाद प्राप्त होती हैं मिल जाती थीं। वे सब विनय के कारण, उस अप्रसन्न गुरु के मुख से निकले हुए प्रसन्न वचनों के कारण संसार के संकट हरने वाले मर्म को विदित कर लेते थे। उपाध्याय कहो, प्रोफेसर कहो, पाठक कहो, शिक्षक कहो, अध्यापक कहो सब एक ही बात है, किन्तु आचार्य जिसके सम्बन्ध में घोषणा करे ये अपने संघ के उपाध्याय हैं वे उपाध्याय कहलाते हैं।

उपाध्यायों में ज्ञानी की विशेषता—उपाध्याय परमेष्ठी जीवादिक समस्त तत्त्वों के, पदार्थों के उपदेश देने में शूर हैं। उपाध्याय के मूल गुण 25 बताये हैं, 11 अंग 14 पूर्व यों 25 उनके गुण हैं। उपाध्याय परमेष्ठी का कितना विशाल ज्ञान होता है? आज के समय में आचार्य तो ज्यादा हो गए उपाध्याय एक भी नहीं रहा जबकि उपाध्याय से बड़ा पद है आचार्य का। इससे ज्ञान करो कि आचार्य कौन बन सकता है? जिसमें उपाध्याय से भी बढ़कर योग्यता हो वह आचार्य है। न हो समान, न हो 11 अंग 14 पूर्व का ज्ञान, मगर वर्तमान ज्ञानियों के हिसाब से कुछ विशिष्ट ज्ञान तो रखते हो तब वे आचार्य कहला सकते हैं। अब बतलावो साधारण गृहस्थ के बराबर भी ज्ञान न हो और आचार्य बनने की धुन बनाये तो उसमें कितनी ही विडम्बनायें हो रही है जो आज समाज भुगत रहा है। जो आज के हिसाब में कुछ विशिष्ट ज्ञान रखता हो वह आचार्य है, ऐसी स्वीकारता होनी चाहिए।

उपाध्याय परमेष्ठी की निर्दोष देशना—उपाध्याय परमेष्ठी जो कुछ उपदेश देते हैं वे सब उपदेश जिनेन्द्र देव की परम्परा से चले आये हैं स्वरुचिनिमित्त, कपोलकल्पित उनके उपदेश नहीं है, जिसने इस निश्छल अखण्ड अद्वेत निज परमस्वभाव का श्रद्धान किया, ज्ञान किया, उसमें ही रमण किया, एकता रूप निश्चय रत्नत्रय में जो परिणत हो और उसके फल में जिसके अनन्त चतुष्टय प्रकट हो, ऐसे आप्त देव की दिव्यध्वनि की परम्परा से चला आया हुआ जो समस्त पदार्थों का विवरण है उस विवरण का उपदेश करने में वे कुशल है। उपाध्याय परमेष्ठी ने निश्चयधर्म और व्यवहार में दोनों का उपदेश किया है। निश्चय तो हैं वस्तु के स्वभाव का नाम अथवा आत्मा के स्वभाव का नाम और इस स्वभाव के अवलोकन के बल से जो मोह क्षोभ रहित निर्मल परिणाम हुआ है धर्म उसका भी नाम है। निश्चय धर्म और जो इस निश्चयधर्म को प्रकट करने में परम्परा कारणभूत हो वह व्यवहारधर्म है, निश्चयधर्म के प्रकट होने का

वास्तविक कारणभूत एक देश शुद्धोपयोग है, उसके रहते हुए जो शुभोपयोग की प्रवृत्तियां चलती हैं वे सब व्यवहार धर्म कहलाती हैं।

अन्तस्तत्त्व में उपादेयता के भाव की प्रयोजकता—धर्मधारण करने के लिए यह परिज्ञान सहायक है कि निज शुद्ध आत्मतत्त्व, ज्ञानमात्र, ज्ञायकस्वरूप यह तो उपादेय है और परद्रव्य व परभाव हेय हैं। किसी भी वर्णन का कोई एक ध्येय हुआ करता है। मोक्षमार्ग का प्रयोजक जितना भी उपदेश है उस उपदेश का प्रयोजन केवल एक यही है निज शुद्ध आत्मतत्त्व उपादेय है और सब परभाव हेय हैं। कुछ भी व्यवहार धर्म करें उसमें यह बात आनी चाहिए, ऐसी जिसकी धुन बन जाती है वह उच्च पुरुष है। सम्यग्दृष्टि भी पूज्य माना गया है। पुरुष पूज्य नहीं है सम्यक्त्व पूज्य है। सम्यग्दर्शन की अतुल महिमा है। अविरति सम्यग्दृष्टि भी मोक्षमार्ग में लगा हुआ है, किन्तु निर्ग्रन्थ भेष का धारण करने वाला यदि निज सहजस्वभाव का अनुभव नहीं कर सका है तो वह मोक्षमार्ग में लगा हुआ नहीं है। उसके सारे काम लौकिक हैं, अलौकिक नहीं रहे। मात्र वह सब दिल बहलाने की बात है। किसी के तीव्र कषाय है उसका दिल बहल रहा है विषयों में किसी के मंद कषाय है तो उसका दिल बहल रहा है व्रत में, संयम में, तप में, उसने भी दिल बहलाया और इस भेष धारी साधु ने भी अपना दिल बहलाया, किन्तु सम्यक्त्व के अनुभव बिना न वहाँ सांसारिक संकट टलते हैं और न यहाँ कोई परमार्थ में वृद्धि होती है।

उपाध्याय की व्युत्पन्नता—उपाध्याय शब्द का अर्थ क्या है। उसका अर्थ है समीप में, "यस्य समीपे शिष्यवर्ग: अधीते स: उपाध्याय:।"जिनके समीप शिष्यजन अध्ययन करें उन्हें उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं। यह उपाध्याय परमेष्ठी निष्काम भावना करिके सहित हैं, ये शिष्यजनों को शिक्षण देकर उनसे कोई सेवा शुश्रूषा नहीं चाहते हैं, उनसे कोई अपनी वैयावृत्ति नहीं चाहते हैं किन्तु शिष्य स्वयं भक्ति में ओतप्रोत होकर सेवा शुश्रूषा करते हैं। यह शिष्यों का कर्तव्य है किन्तु उपाध्याय परमेष्ठी निज परमात्मतत्त्व की भावना में उपयुक्त हुआ करते हैं और इस सहज ज्ञायक स्वभाव की भावना से उत्पन्न हुआ जो वीतराग शाश्वत आनन्द है उस आनन्दामृत का पान किया करते हैं।

अध्यात्मनिर्णय की प्रयोजकता—भैया ! यह आनन्द कैसे मिलेगा? अपने स्वरूप को निहारें। इसके लिये अध्यात्मज्ञान चाहिये यह आत्मा सिवाय जानने के और कुछ नहीं करता है। बाकी प्रसंगों में जितने भी काम होते हैं वे निमित्तनैमित्तिक भाव में होते हैं। यह आत्मा बोलता भी नहीं है। आपको सुनाई दे रहा है, कुछ देख रहे हो कि ये ओंठ चल रहे हैं, जीभ चल रही है, हाथ चल रहे हैं, वाणी निकल रही है, तुम सुन रहे हो किन्तु आत्मा बोल ही नहीं रहा है। यह आत्मा तो ज्ञान कर रहा है और इच्छा कर रहा है, साथ में इच्छा भी तो लगी है। इस जीव के होने वाले ज्ञान में तो आफत है नहीं। ज्ञान तो जीव का स्वभाव है, वह तो जानेगा ही, किन्तु इच्छा का जो विकार हो गया है उससे भीतर में ऐसी खलबली मच गई कि आत्मा के प्रदेश हिल उठे, प्रदेशों में परिस्पंद हो गया। अब आत्मा के प्रदेशों में जो परिस्पंद हुआ, योग हुआ उसका निमित्त पाकर शरीर में भरे हुए जो वातादि तत्त्व हैं, वात, पित्त, कफ। शरीर में जो वायु तत्त्व हैं इन वायु तत्त्वों में फड़कन हुई और जहां वायु तत्त्व में फड़कन हुई तो जैसा मूल निमित्त था, इच्छा थी उसके अनुकूल योग हुआ, उसके अनुकूल वायु फड़की और उसके अनुकूल ये ओंठ जीभ कंठ हिल उठे।

आत्मा द्वारा शब्दादि का अकर्तृत्व—मुख जैसा यंत्र यदि कोई वैज्ञानिक बना सके वैसी ही वायु चले तो ऐसे यंत्र से ऐसा ही बुलवा लो, ऐसे ही जीभ, हाथ आदि चलवा लो। उन शब्दों का निर्माण नियत है। कंठ में जोर आये बिना क, ख, ग, घ आदि शब्द नहीं बोले जा सकते हैं तालु के स्पर्श बिना च, छ, ज, झ आदि शब्द नहीं बोले जा सकते हैं, मूर्धा को छुये बिना ट, ठ, ड, ढ आदि शब्द नहीं बोले जा सकते हैं। जैसे हारमोनियम में जो शब्द दबायें वैसी ही आवाज निकलती है, इसी प्रकार गले से लेकर इस मुख तक के इस हारमोनियम बाजे में जैसे अंग चलेंगे वैसी आवाज निकलेगी। दांतों में जीभ लगाये बिना त, थ, द, ध, न नहीं बोला जा सकता है, ओंठ में ओंठ मिलाए बिना प, फ, ब, भ, म, नहीं बोला जा सकता है। तो यह मुख तो एक बाजा है, जैसे अंग चलावो तैसी बात निकलेगी। इस आवाज को बोलने वाला यह आत्मा नहीं है तब फिर इस आत्मा ने क्या किया? केवल परिज्ञान किया और इच्छा की तो जब हम मात्र ज्ञान ही कर सकते और इच्छा ही कर सकते, इससे आगे बाह्यपदार्थों में कुछ नहीं कर सकते तब फिर कुछ विवेक बनायें ना, हम ऐसा वस्तु का परिज्ञान करें, ऐसा तत्त्व का परिज्ञान करें कि जिस परिज्ञान में संसार के सारे संकट टल सकें, वह तत्त्व है निज कारणसमयसार।

उपाध्याय परमेष्ठी का अभिनन्दन—जो निरञ्जन है, परभाव के लोगों से रहित है, सर्व प्रकार के बाह्य परिग्रहों के त्यागरूप है, ऐसे निज परमात्मा की भावना ये उपाध्याय परमेष्ठी करते हैं और इस भावना के फल में उनको जो सहज परम शाश्वत आनन्द प्राप्त होता है, वे तो उससे तृप्त हैं, फिर भी करुणा के कारण शिष्य वर्गों को अध्ययन कराते हैं, ऐसे ये उपाध्याय परमेष्ठी जैनों के उपास्य हैं अर्थात् रागद्वेष को जीतने वाले भाव में श्रद्धा रखने वाले साधु संतजनों के उपासक हैं। ऐसे रत्नत्रयमय शुद्ध भव्य रूप कमलों को करने वाले सूर्य के समान प्रकाशमान् उपाध्याय पवित्र ज्ञानपुंज ज्ञान ही जिसका एक क्रीड़ा स्थान है ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी को बार-बार मेरा नमस्कार हो।

गाथा 75

वावारविप्पमुक्का चउव्विहारायणासयारत्ता।
गिग्गंथा णिम्मोहा साहू दे एरिसा होंति।।75।।

साधुपरमेष्ठी—जो व्यापार से विमुक्त है, चार प्रकार की आराधनावों में सदा लीन रहता है, निर्ग्रन्थ एवं निर्मोह है ऐसा ज्ञानीपुरुष साधु परमेष्ठी होता है। साधु शब्द का अर्थ है 'स्वशुद्धात्मानं साधयति इति साधुः।'जो शुद्ध आत्मा को साधे उसे साधु कहते हैं। साधु 10 प्रकार के होते हैं—प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण उपशमक, अनिवृत्तिकरण उपशमक, सूक्ष्मसाम्पराय उपशमक, उपशांतमोह, अपूर्वकरण क्षपक, अनिवृत्तिकरण क्षपक, सूक्ष्मसाम्पराय क्षपक और क्षीणमोह। सयोगकेवली अरहंत परमेष्ठी में है और अयोगकेवली भी अरहंत परमेष्ठी में है। अभी जो 10 के नाम बताये गए हैं उनमें जो क्रम होता है उसमे यह जानना कि पहिले नम्बर से अगले नम्बर के साधु का परिणाम विशेष निर्मल होता है। 11 वें गुणस्थान वाले उपशांत मोह साधु जितनी कर्मनिर्जरा करते हैं उससे असंख्यातगुणी निर्जरा क्षपकश्रेणी में रहने वाले अपूर्वकरण गुणस्थान वाले साधु करते हैं। देखिये वे कषायरहित है, और इसके अभी

कषायों का विनाश नहीं हुआ है, किन्तु कर्मों के क्षय करने का जो कदम है परिणाम है वह बड़ी विशिष्ट जाति का होता है। साधु परमेष्ठी निरन्तर निज शुद्ध स्वरूप के अवलोकनरूप चैतन्यप्रतिपन में निरत रहा करते हैं।

साधुवों की निरारम्भता—साधुजन समस्त बाह्य प्रकार के श्रमों से रहित क्यों हो जाते हैं? इसका कारण यह है कि वे परमसंयमी साधुपुरुष नित्य शुद्ध निज परमपारिणामिक भाव की भावना में परिणत रहते हैं। मैं क्या हू—इसका स्पष्ट निर्णय और इसकी स्पष्ट झलक साधुवों में बनी रहा करती है। यह परमपारिणामिकभाव त्रिकाल निरावरण है। जीव का जो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है उस पर यदि आवरण हो तो जीव का अभाव ही हो जायेगा। यह पारिणामिक भाव सहजसत्त्व रूप है, सर्व पर और पर-भावों के लेप से रहित है, ऐसे साधु चैतन्यस्वरूप की भावना में परिणत साधुजन रहा करते हैं, इस कारण साधुजन बाह्य व्यापारों से रहित होते हैं, वे आरम्भ और परिग्रह नहीं करते हैं, आरम्भ करने को उनका चित्त ही नहीं चाहता, यद्यपि साधुजनों के जब तीव्र क्षुधा होती है, भूख लगती हे तो आगमोक्त विधि के अनुसार अपनी मुद्रा सहित नगर में जाते हैं और कोई पड़गाह ले विधि सहित, आदर सहित तो वहाँ आहार कर लेते हैं। इतनी क्रियाए तो वे कर लेते हैं परन्तु भोजन में इतना अनुराग नहीं है कि वे अपने हाथ से बनावें। ऐसी रुचि, आसक्ति साधुवों में भोजन की नहीं होती है। भिक्षा भोजन करने में और अपने आप भोजन बनाकर खाने में रुचि का अन्तर अवश्य होता है। यों 6 कायों की हिंसा से विरक्त साधुजन भोजनविषयक आरम्भ भी नहीं करते हैं।

साधु की निरारम्भता के सम्बन्ध में शंका समाधान—एक शंका यहाँ यह कही जा रही है कि वे आरम्भ नहीं करते, आरम्भ की हिंसा से विरक्त हैं तो ऐसे यदि विरक्त हैं तो जो आरम्भ करके भोजन बनाए उनका भी भोजन न करना चाहिए। यह क्या बात है कि खुद तो बन गए बड़े उजले और दूसरे आरम्भ करें, उनके यहाँ आहार करने जायें तो क्या उसमें आरम्भ का दोष नहीं लगता है? इसका समाधान यह हैं कि श्रावकजन एक नियम ले रखते हैं कि मैं प्रत्येक दिन शुद्ध भोजन करूगा और भोजन करने से पहिले साधुसंतों को पड़गाह कर, आहार कराकर भोजन करूगा। किसी के रोज का नियम होता है, किसी के एक दिन का नियम होता है। साधुजन उस घर यह देख लेते हैं कि यह आहार केवल मेरे लिये ही बना है तो वे आहार नहीं लेते हैं। श्रावक रोज आरम्भ करते हैं, उन्हें रोज भोजन बनाना पड़ता हैं, खाते हैं, कदाचित् शुद्ध भावना करके, सावधानी सहित भोजन बना लें तो श्रावकों ने गुण किया या अवगुण किया? न बनाए शुद्धतापूर्वक भोजन किसी दिन तो असावधानी और अशुद्धता से ही तो वह भोजन बनायेगा, उसकी अपेक्षा तो श्रावक ने गुण किया है, साधुजन यदि यह देख लें कि केवल मेरे लिए भोजन बनाया है तो उसे वे ग्रहण नहीं करते हैं। भूख रोग की शांति के लिए इतना प्रतिकार तो उनका हो जाता है, पर स्वयं बनाए तो उसके लिए सामान जोड़ेंगे और फिर सामान की रक्षा करना पड़ेगी, तो जहां इतनी बातें बढ़ जायें फिर वहाँ आत्मसाधना का अवसर ही कहां मिलेगा? इससे साधुजनों में भिक्षा भोजन की पद्धति होती है।

साधुवों की मनोगति के सम्बन्ध में शंका समाधान—शंका जब बाह्य में कुछ श्रम तो करने को रहा नहीं, न रोजगार करना है, न भोजन के साधन जुटाना है, न कोई बर्तन रखना है, वही है एक पिछी और कमण्डल जो कि संयम और शुद्धता के उपकरण के लिए आवश्यक है। फिर भी वे करते क्या रहते है? गृहस्थजन तो बेकार होने पर एक घंटा भी समय नहीं गुजार पाते हैं और वे साधुजन 24 घंटा समस्त व्यापारों से विमुक्त हैं, ऐसे ठलुवा बेकार, जिनको शरीर से किसी भी प्रकार का आरम्भ नहीं करना होता है वे साधुसंत जन क्या किया करते हैं? समाधान, वे

चार प्रकार की आराधना में लीन रहा करते हैं। करता तो कोई भी बाहर में कुछ नहीं है, जो गृहस्थजन हैं वे भी बाहर में कुछ नहीं किया करते हैं, वे अपने आपमें अपना परिणाम बनाया करते हैं। किसी न किसी बात की आराधना गृहस्थ भी किया करते हैं, आराधना के सिवाय गृहस्थ भी कुछ नहीं किया करते हैं, तो साधु भी आराधना के सिवाय और क्या करें? गृहस्थों की आराधना हैं साधुवों से विचित्र विलक्षण धन की आराधना, इज्जत की आराधना, मकान दुकान की आराधना। वे विषय के साधनों की आराधना को करते हैं। वे भी किसी न किसी ओर उपयोग बनाए रहते हैं। साधुसंत ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, इन चार की आराधना में रहा करते हैं। मैं ज्ञानस्वरूप हू, कैसा यह सहजज्ञान प्रकाश है? यह ज्ञानप्रकाश ही मेरे निरन्तर रहा करे, यही समस्त आनन्द का श्रोत है—ऐसे परम शरणभूत निज ज्ञायकस्वभाव की आराधना में वे साधु रहा करते हैं।

साधु संतों की आराधना—परम ज्ञानस्वरूप निजतत्त्व की श्रद्धा हो उसे कहते हैं सम्यग्दर्शन। उसकी आराधना में अथवा निज सहजस्वरूप जो अन्तर्मुखतया अवलोकन है, जो अन्तर्मुख चित्प्रकाश है वह है दर्शन इस दर्शन में आत्मा को कोई झंझट ही नहीं रहा, ऐसे दर्शन की आराधना में साधुजन रहा करते हैं। ज्ञान और दर्शन की स्थिति मेरे निरन्तर बनी रहा करे, ऐसी हम आपकी भावना रहनी चाहिये। केवल ज्ञाता द्रष्टा रहने में शुद्ध आनन्द जगता है। आनन्द ही इस जीव का चरम ध्येय है। ऐसे ज्ञाताद्रष्टा रहने की भावना में साधुजन लीन रहा करते हैं। इन तीनों की आराधना की साधना के लिए, उन साधनों के बाधक विषय-कषायों की मुक्ति के लिए वे नाना प्रकार के तपश्चरण करते हैं। उन तपश्चरणों में इसे अलौकिक लाभ प्राप्त होता है। उस लाभ के लिए साधुसंतजन तप की आराधना किया करते हैं।

साधुवों की निर्ग्रन्थता—ये साधु परमेष्ठी निर्ग्रन्थ होते हैं, ग्रन्थ नाम परिग्रह का है, ग्रन्थि नाम गांठ का है। जैसे डोरों में गांठ लगा दी जाती है, वह जकड़ जाती है उससे फिर रस्सी मुक्त नहीं हो पाती है यों ही जो भावों में गांठ रहती है वह ग्रन्थि है। परिग्रह का नाम भी गांठ है। इसमें जकड़ा हुआ प्राणी संकट से मुक्त नहीं हो पाता। जो चारों ओर से ग्रहण कर ले उसे परिग्रह कहते हैं। ये परिग्रह 24 प्रकार के होते हैं, 10 तो बाह्य परिग्रह और 14 आभ्यन्तर परिग्रह। साधु परमेष्ठी 24 प्रकार के परिग्रहों से विरक्त रहते हैं, दूर रहते हैं, जिन्हें केवल आत्मसाधना से ही प्रयोजन रह गया है ऐसे पुरुष कैसे खेत मकान, धन धान्य, दास दासी, वस्त्र बर्तन रखेंगे, कहां लादे फिरेंगे? उन्हें तो अपने शरीर का लादना भी नहीं सुहाता है, पर शरीर कहां मिटाया मिटता है? यों प्राणघात करके मिटा दिया तो नया शरीर मिलेगा। शरीर सदा के लिए मिट जाय इसके उपाय में प्राणघात की उतावली नहीं की जाती है, किन्तु मैं देहरहित हू, ऐसे देह रहित निज ज्ञानस्वरूप की भावना के बल से कभी यह देह आत्मा से सदा के लिए दूर हो जाता है। किसी दुष्ट से पाला पड़ा हो तो उतावली में काम बिगड़ जाता है। वहाँ तो धीरे-धरे धीरता से गम्भीरता से काम लिया जाता है। ये साधुपरमेष्ठी 10 प्रकार के बाह्य परिग्रह और 14 प्रकार के आभ्यन्तर परिग्रह से विमुक्त है। 10 प्रकार के परिग्रह हैं ये मकान, धन, रुपया, पैसा, रकम वगैरह धान्य, अनाज, दास, दासी, सोना, चाँदी वस्त्र और बरतन भांडे-इन 10 प्रकार के बाह्यपरिग्रहों से साधुवों का कोई प्रयोजन ही नहीं रहा।

साधुवों की निर्विकारता—वे साधुजन निर्विकार होते हैं। जो साधुवों के गुणों को पहिचानते हैं वे साधु के परम उपासक हो जाते हैं। अज्ञानीजन तो उनके रूप को देखकर निन्दा किया करते हैं। ये नग्न रहते हैं, इन्हें लाज भी नहीं

आती है। पर जो साधु के अन्तरंग गुणों में प्रवेश कर गये हैं वे ही इनका महत्त्व आंक सकते हैं—ओह ये मंद कषायी है, इनकी दृष्टि शुद्ध सहज ज्ञायकस्वरूप पर रहा करती है। ये साधु ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व की प्रतीति रखते हैं, इन्हें किसी भी विषयों की आशा नहीं रही है, विषयों की इच्छा नहीं रही है। ये साधु मोक्षमार्ग की आराधना किया करते हैं। ज्ञानी भक्त की दृष्टि साधु के गुणों पर रहती है। ये परमेष्ठी 10 प्रकार के बाह्य परिग्रहों से तो अत्यन्त दूर रहते हैं ही, साथ ही विशेषता आभ्यन्तर परिग्रह मुक्ति की है। आभ्यंतर 14 परिग्रह हुआ करते हैं, मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद। इन 14 प्रकार के परिग्रहों के व्यक्तरूप छठे गुणस्थान में भी नहीं रहता है। कषायों का इतना मंद परिणमन रहता है कि जिससे उनके सम्यक्त्व में, संयम में बाधा नहीं आती है। और फिर वे इस शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना के बल से रहे सहे गंदे परिणमनों को भी समाप्त कर देते हैं। ये साधु परमेष्ठी इन 24 प्रकार के परिग्रहों से विमुक्त हैं।

वास्तविक कृत्य और वैभव—भैया ! इस लोक में करने योग्य काम क्या है खूब परखिये। मकान बनवाकर क्या करोगे? दुकान बनवाकर क्या करोगे? करना पड़ता है सो करिये। पर अंतरंग में यह श्रद्धा तो रखिये कि ये जड़ पौद्गलिक ही मेरे लिए सब कुछ नहीं हैं, इनसे इस आत्मा का कुछ भी लाभ न होगा। कविजन कहते हैं कि लक्ष्मी का नाम दौलत इसलिए रक्खा गया कि इसके दो लातें होती हैं। सो जब लक्ष्मी आती है तो यह छाती पर लात मारकर आती है, जिससे छाती कड़ी और गर्व वाली हो जाती है और जब लक्ष्मी जाती हे तो पीठ में लात मारकर जाती है जिससे फिर वह दीन झुकी कमर वाला, कांति रहित हो जाया करता है। वास्तविक लक्ष्मी तो आत्मा की ज्ञानलक्ष्मी है। निज शुद्ध स्वरूप का परिज्ञान रहा करे उससे बढ़कर वैभव लोक में अन्य कुछ नहीं है। ये साधुपरमेष्ठी इन सर्व प्रकार के बाह्य झंझटों से, व्यापारों से, परिग्रहों से मुक्त रहा करते हैं।

निर्मोहता—साधु परमेष्ठी अत्यन्त निर्मोह हैं। मोह हुआ करता है अपने आपके परिणामों में, परवस्तु में कोई मोह कर ही नहीं सकता। अज्ञानीजन, मिथ्यादृष्टि पुरुष जो भी मोह कर रहे हैं वे परवस्तु में मोह नहीं कर रहे हैं, परवस्तु तो उसके मोह परिणाम का विषय बन रहा है। मोह तो सब अपने आपकी भावना में कर रहे हैं। मिथ्यात्व श्रद्धा गुण का विपरीत परिणमन है। श्रद्धागुण आत्मप्रदेश में ही है। अपने श्रद्धागुण का जो भी परिणमन हो वह आत्मप्रदेश से बाहर कहां रह सकेगा? वहाँ तो आधार ही नहीं है। श्रद्धा गुण का विपरीत परिणमन भी आत्मप्रदेश में रहता है। और वहाँ भी वास्तव में यह चारित्र मोह के विकारों को अपनाता है, यही मिथ्यात्व परिणमन है। चारित्र के विकार हैं रागद्वेष, क्रोध, मान, माया लोभ, इच्छा, तृष्णा, असंतोष इन सब भावों को अपनाते रहना, यह मैं हू, इनसे ही मेरा हित है ऐसा उनको अपना स्वरूप बनाया करना, यही जीव का मिथ्यात्व परिणमन है। बाहर में कहां मोह है किसी से? तब यों कहो कि अपने आपके स्वरूप के सम्बन्ध में मिथ्या श्रद्धान् हो, मिथ्याज्ञान हो और मिथ्या आचरण हो, अथवा विषय कषायरूप परिणमन हो यही मोह हुआ। साधु संतों के ये अज्ञान परिणाम नहीं होते हैं, इस कारण उनके मोह नहीं है, वे निर्मोह हैं।

शुद्ध विकास का उपाय—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र से हितपना कैसे बना जाता है? उसका सीधा उत्तर है कि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्ररूप परिणमन हो। जहां यह रत्नत्रयरूप परिणमन होता है वहाँ यह मिथ्यात्रय रहता ही नहीं है। यह विशुद्ध परिणमन परभावों से शून्य निज कारणसमयसार स्वरूप अंतस्तत्त्व के

अवलोकन, परिज्ञान और आचरण की स्थिति से हुआ करता है। ये साधुपुरुष निजसहज स्वभाव के ग्रहण से सर्व प्रकार के मोह से अत्यन्त विमुक्त हैं, ऐसे ये साधु परमेष्ठी हम आप सबके वंदनीय हैं।

साहू और साहूकारी—साधुवों की दृष्टि परम निर्माण की ओर रहती है। जैसे लौकिक जनों की रुचि अनेक शोभावों से सज्जित कामनी की ओर रहती है, वे लौकिक पुरुष जैसे सुन्दर रूप के देखने के कौतूहली रहा करते हैं, उसके विपरीत ये साधुजन परम निर्माण की शोभा कला के कौतूहली रहा करते हैं। श्रमणों की केवल एक ही धुन है सदा मुक्त निज शाश्वत स्वभाव की उपासना करना और इस उपासना के फल में निर्वाण का आनन्द प्राप्त करना। साधुसंत का जीवन इसी कारण सार्थक है, जो आत्मस्वभाव को साधे उसे साधु कहते हैं। साधु शब्द बड़ा मनोज्ञ शब्द है। साधु शब्द का पर्याय है साहु और श्रेष्ठ पुरुषों में साहु शब्द की प्रसिद्धि हो गई। साहू, साह, साहूकार। साहूकारी नाम किसका है? आत्मस्वभाव को सिद्ध करने वाले पुरुषार्थ को साहूकारी कहते हैं। लोक में उसे साहूकार माना जाता है जिसके धन वैभव हो, लेन देन होता हो, ब्याज की बड़ी आमदनी हो। पर साहूकारी का सही अर्थ यह है कि निज आत्मस्वभाव के दर्शन करने वाली दृष्टि का रहना, स्वभाव का आश्रय करना, विषय विकारों से परे रहना, अपने आपके गुणों का शुद्ध विकास करना, आत्मसमृद्धि पाना अर्थात् साधु का कर्तव्य। जो साधु का कर्तव्य है वही वास्तविक साहूकारी है।

समृद्धि और समृद्धि के अर्थ प्रयोग—सर्वोत्कृष्ट समृद्धि है परमनिर्वाण। द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से सदा के लिए छुटकारा पा लेना, इसे कहते हैं परमनिर्वाण। ऐसे साधुपुरुष नित्य आत्मस्वभाव की आराधना में लीन रहते हैं। साधु पुरुष का आशय इतना विशुद्ध होता है कि वहाँ रागद्वेष की कणिका नहीं रहती है। वे संसार के सुखों को त्यागकर सर्व संगों के सम्बन्ध से मुक्त रहकर निरन्तर आनन्दमय आत्मतत्त्व में विभोर रहा करते हैं। सिद्ध परमेष्ठी से तो हम लोगों का कुछ व्यवहार ही नहीं चलता, पर उनके गुणों का स्मरण कर हम लाभ प्राप्त करना चाहें तो प्राप्त कर सकते हैं। अरहंत परमेष्ठी जिस समय में अरहंत हुआ करते हैं उस क्षेत्र में जो जीव हों उनको दर्शन और दिव्यध्वनि श्रवण मात्र का व्यवहार रहता है। ऐसे भी अरहंत परमेष्ठी का सदा समागम नहीं रहता है, आचार्य परमेष्ठी, उपाध्याय परमेष्ठी और साधु परमेष्ठी—इन तीन परमेष्ठियों को समागम विशेष रहा करते हैं। हम अपने चारित्र को प्रयोजनात्मक प्रगतिशील तब कर सकते हैं जब हम इन परमेष्ठियों के सत्संग में रहते हैं। इस कारण सुगम शीघ्र उपकार की दृष्टि से हमें इन गुरुवों की उपासना बहुत लाभदायक है। ऐसे साधु पुरुष सदा वंदनीय हैं। अब यहाँ तक व्यवहार चारित्र के पालन के प्रताप से कैसा-कैसा आत्मा का विकास हुआ है, इस प्रसंग में पंचपरमेष्ठी का स्वरूप कहा गया है। अब अंतिम गाथा में जो व्यवहारचारित्र से और आगे चलकर निश्चयचारित्र की संधि करने वाली है ऐसी गाथा को आचार्यदेव कह रहे हैं।

गाथा 76

एरिसयभावणाए ववहारणयस्स होदि चारित्तं।
णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उड्ढं पवक्खामि।।76।।

दो अधिकारों का संधि रूप विवरण—जैसा कि उक्त प्रकरणों में कहा गया है इस प्रकार की भावना में व्यवहारनय का चारित्र होता है। निश्चय नय के अभिप्राय से चारित्र क्या है? इस बात को अब आगे कहेंगे। आपने समझा ही होगा कि यहाँ व्यवहारचारित्र के वर्णन में भी निश्चयचारित्र की झलक प्रदर्शित की गई है, कारण यह है कि निश्चयचारित्र के सम्बन्ध बिना वास्तव में बाह्यचारित्र को व्यवहारचारित्र भी नहीं कहा जा सकता है। यद्यपि उस बाह्य चारित्र का नाम भी चाहे निश्चयचारित्र न हो, व्यवहार चारित्र कहा गया है, किन्तु जो कार्यकारी व्यवहारचारित्र है और मोक्षमार्ग में सहायक व्यवहारचारित्र है वह व्यवहारचारित्र नहीं बन पाता। यह गाथा व्यवहारचारित्र के व्याख्यान का उपसंहार करने वाली है और निश्चय चारित्र के व्याख्यान की सूचना देने वाली है।

निश्चयचारित्र का विषय परमपारिणामिक भाव—निश्चयचारित्र में आदि से अंत तक सम्पूर्ण जीवों के परम पारिणामिक भाव का आश्रय रहता है और इसी कारण निश्चय चारित्र एक स्वरूप है। व्यवहारचारित्र में क्रियाए अनेक हैं—महाव्रत, समिति तथा गुप्ति का धारण व 6 आवश्यक आदि अनेक क्रियाए व्यवहारचारित्र में होती हैं, पर निश्चयचारित्र केवल एक स्वरूप होता है। उसमें दृष्टि की दृढ़ता के साधन तो होते हैं किन्तु विषयभेद नहीं होता। वह निश्चयचारित्र चाहे प्रमत्तविरतों में हो, चाहे अप्रमत्तविरतों में हो, सबका लक्ष्य केवल एक निज सहज शुद्ध ज्ञायकस्वरूप रहता है। ज्ञाता द्रष्टा रहने की स्थिति रखना यही परमार्थ से निश्चयचारित्र है। व्यवहारचारित्र के पालन करते हुए भी बीच-बीच में यथा अवसर यह निश्चयचारित्र आता जाता है तो वह व्यवहारचारित्र अपने उद्देश्य में सफल होता है।

व्यवहारचारित्र में प्रशस्तराग की प्रमुखता—व्यवहारचारित्र में अतिप्रशस्त शुभ भाव की प्रमुखता है जबकि निश्चयचारित्र में समस्त राग रहित, समस्त विभावतरंगरहित निज आत्मतत्त्व में उन्मुख होने की प्रमुखता है। ऐसी जो पहिली बतायी गयीं अनेक शुभ भावनाए हैं उन सभी भावनावों में रहना सो व्यवहारचारित्र है। हाथ पैर की क्रियाए होना मात्र पौद्गलिक क्रियावों के नाते से देखा जाय तो यह चारित्र न व्यवहार है और न परमार्थ है। जैसी जीव व्यक्त पुद्गल की क्रियाए होती है ऐसी ये भी क्रियायें हैं ! फर्क यह है कि ये क्रियाए चेतन के सम्बन्ध बिना नहीं हो रही हैं, पर इस गोष्ठी में से चेतन का सम्बन्ध तो निरखा न जाय और केवल देह की क्रियाए ही देखी जायें तो वह चारित्र ही नहीं है। इस प्रसंग में जो शुभ भावनाए होती हैं महाव्रत व समिति का पालना, गुप्ति का धारण करना इन प्रसंगों में जो मन, वचन, काय की शुभ चेष्टाए होती हैं, स्वभाव का अनुराग है, प्रशस्त शुभ भावना है वह सब व्यवहारचारित्र है।

चारित्र की आत्मपरिणतिरूपता—आत्मा के गुणों की परिणति ही चारित्र हो सकता है। पौद्गलिक देहादिक की परिणति का नाम चारित्र नहीं है। श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र ये तीनों गुण आत्मा के हैं, देह के नहीं हैं। इसलिए देह की क्रियावों में न श्रद्धान् है, न ज्ञान है, न चारित्र है। आत्मा की क्रियावों में ही, परिणति में ही दर्शन, ज्ञान, चारित्र है। तो जो शुभ रागमय भावना है वह तो है व्यवहारचारित्र और जो शुभ अशुभ राग रहित केवल स्वच्छ ज्ञान स्वरूप का अवलोकन है, आश्रय है वह है निश्चयचारित्र और व्यवहारचारित्र ये दोनों ही परिणतियां हैं। अब मोक्षमार्ग के प्रकरण में निश्चयचारित्र के स्पर्श सहित जो व्यवहारचारित्र होता है वह तो कार्यकारी माना गया है और निश्चयचारित्र के स्पर्शन से रहित जो आत्मपरिणतिरूप शुभ भावना भी चले तो भी वह मोक्षमार्ग के लिए कार्यकारी नहीं है, क्योंकि अज्ञानभाव रहते हुए शुभ राग की भावना भी कर्मनिर्जरा करने में सफल नहीं हो सकती है।

व्यवहारचारित्र में प्रशस्त अनुराग—व्यवहारचारित्र में 13 प्रकार के चारित्र और परमेष्ठी का ध्यान—इन दोनों में अनुराग रहता है। बिना शारीरिक क्रियावों में आये हुए महाव्रत, समिति, गुप्ति जो वस्तुत: महाव्रत, समिति, गुप्ति हो ही नहीं पाते है, उनमें अनुराग करना, यह प्रशस्त राग नहीं है, अज्ञान सहित जितने भी राग हैं वे सब राग अतिप्रशस्त राग नहीं कहलाते हैं। यद्यपि लड़ाई झगड़े की अपेक्षा ये सब राग प्रशस्त राग है, लेकिन मोक्षमार्ग में जिनको शामिल किया जा सके, ऐसे ये प्रशस्त राग नहीं है। निश्चय अहिंसा महाव्रत और व्यवहार अहिंसा महाव्रत में जो शुभ अनुराग है, प्रशस्त अहिंसामहाव्रत का अनुराग है, ऐसे ही निश्चयरूप सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग महाव्रत और व्यवहाररूप सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग महाव्रत इनके अनुराग का होना भी प्रशस्त अनुराग हैं। प्रयोजनभूत बात तो इतनी है कि उन सब क्रियावों में बीच-बीच झलक निश्चय की होती रहनी चाहिए।

निश्चय की संगति से व्यवहार का सामर्थ्य—जिसकी दृष्टि शुद्ध आत्मस्वरूप की ओर नहीं है जो कि ज्ञानसाध्य बात है तब ऐसे अज्ञानमय भाव में रहते सहते जो भी भावना चलेगी, जो भी देह की परिणति चलेगी वह सब एक दिल बहलाने वाली परिणति है। वहाँ मार्ग में संक्रमण, निर्जरण, संवरण आदि कोई प्रयोजक बातें हो सकें सो नहीं हो सकता है। इस मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत शुभोपयोग में शुद्धतत्त्व के उपयोग का साथ अवश्य है। और इसी कारण जब हम भगवद्भक्ति करते हैं तो भले ही एक शुभ अनुराग से हम भगवान् की भक्ति करते हैं पर उस भक्ति से बीच-बीच जो उनके शुद्ध गुणविकास का अवलोकन होता है और उनके शुद्धस्वभाव का दर्शन होता है उस निश्चय अंश की संगति के कारण यह भगवद्भक्ति कर्मनिर्जरा का कारण बन जाती है और इसी कारण सिद्धान्तशास्त्र में भगवद्भक्ति को, कर्मनिर्जरा का कारण बताया है। वादिराज मुनि ने एकीभाव स्तोत्र में यह भी कहा है कि शुद्ध ज्ञान हो जाय, शुद्ध चारित्र हो जाय फिर भी हे प्रभो ! यदि आपकी उत्कृष्ट भक्ति नहीं जगती है तो मोक्ष महल के आवरक मोह कपाट जो लगे हुए हैं, उसमें जो पर्यायबुद्धि का ताला लगा हुआ है उसकी कुंजी ही उसे नहीं मिली, मोक्ष महल के किवाड़ों का ताला खोलने की कुंजी तो भगवद्भक्ति है।

प्रभुभक्ति का उपकार—यह प्रभुभक्ति सर्वप्रथम हम आपको शरण होती है और जैसे-जैसे हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, शुद्ध स्वभाव के निकट पहुंचते जाते हैं वैसे ही वैसे यह प्रभुभक्ति स्वभावभक्ति का रूप रख लेती है और अंत में यह भक्ति स्वभाव में अभेदरूप बन जाती है, वहाँ फिर भक्त और प्रभु का भेद नहीं रहता। अपने आपमें स्वभाव का और उपयोग के ग्रहण का भेद भी नहीं रहता है। वहाँ भी एक निर्विकल्प परिणाम होता है। यह भक्ति अंत में अभेद भक्तिरूप से अवस्थित हो जाती है। प्रभुभक्ति के प्रताप से पापकर्मों की तो निर्जरा होती है साथ ही पुण्यरस की वृद्धि होती है, स्वभावदृष्टि का अवसर होता है। यों कितना आसान तरीका है धर्ममार्ग में बढ़ने का? इसके लिए जो भी बातें उपयुक्त हैं, आवश्यक हैं उन सब बातों में इसका प्रवेश हो जाता है।

प्रभुभक्ति से सिद्धि—भैया ! क्या चाहिए इस जीव को? कठिन विपत्ति न सताये, असुविधा न बनें, सुविधाए प्राप्त हों और शुद्ध भावना बनें, इन सबकी एक साथ साधना करने वाला कोई उद्योग है तो वह है प्रभुभक्ति। शुद्ध भावना से जो इस पंचनमस्कार मंत्र की भावना करता है उसके अश्वमेव अभीष्ट कार्य की सिद्धि होती है। होनी चाहिए शुद्ध भावना। अब भी बहुत से श्रद्धालुजन इस नमस्कार मंत्र की आराधना से अपनी सर्व विपत्तियां समाप्त कर लेते हैं।

शरण—जैसे किसी बच्चे को कोई दूसरा सताये तो वह बच्चा अपने मां की शरण लेता हे, मां की गोद में जाकर छिपता है और किसी बड़े बच्चे को कोई सताये तो वह अपने पिता की गोद की शरण लेता है, किन्तु हम आप इन संसारी प्राणियों को ये कर्म सतायें, ये जन्म-मरण सतायें, ये नाना प्रकार की विडम्बनायें सतायें तो यह तो बतावो कि हम आप किसकी गोद ढूढ़ें ताकि उन सब विपत्तियों से दूर हो सकें?ये माता, पिता, कुटुम्ब, रिश्तेदार, परिजन इनकी गोद हम आपके शरण होगी क्या? अरे ये खुद दु:खी हैं, दु:ख में पड़े हुए हैं। ऐसी स्थिति में हम आपको शरण मिल सकती है तो यह निज शुद्ध आत्मा की शरण ही अपने को मिल सकती है। इसी का स्मरण हो तो शरण मिल सकती है। इसी को कहते हैं परमेष्ठिभक्ति। यों चारित्र के पालन में और परमेष्ठिभक्ति में व्यवहारचारित्र की समृद्धि होती है। अब आगे निश्चयचारित्र का वर्णन चलेगा।

व्यवहारचारित्र में निश्चयचारित्र की छाया—इस अधिकार में व्यवहारचारित्र का वर्णन किया है। 5 महाव्रत, 5 समिति, 3 गुप्ति, इस प्रकार 13 प्रकार के चारित्रों का वर्णन किया है। इन ही 13 प्रकार के चारित्रों के मानने के कारण तेरापंथ नाम पड़ा है। जैसे कुछ लोग कहते हैं कि हम तेरापंथी हैं उसका अर्थ है कि 13 प्रकार का चारित्र मोक्ष का साधक मार्ग है, इस प्रकार की मान्यता वाले और यत्न के उत्सुक हम हैं। यह व्यवहारचारित्र, निश्चयचारित्र के बल पर प्रतिष्ठित रहता है। निश्चयचारित्र शून्य व्यवहार क्रिया को चारित्र संज्ञा केवल उपचार से दी जाती है। यह निश्चयचारित्र ही उत्कृष्ट चारित्र है। आत्मा अपने आपसे हटकर बाह्य पदार्थों में लगकर विह्वल हो रहा है, आकुलित हो रहा है। इसकी आकुलता के मिटने का उपाय ही केवल यह है कि बाह्य पदार्थों से हटकर अपने आपके स्वरूप में स्थिर हो जाय, इस ही का नाम निश्चयचारित्र है।

व्यवहारचारित्र का प्रयोजन निश्चयचारित्र की साधना—व्यवहारचारित्र का प्रयोजन निश्चयचारित्र की साधना है। जैसे व्यवहारचारित्र में जो कुछ किया जाता है, कोई मुनि चले देख भालकर तो चलने के लिए वह नहीं चला, वह निश्चयचारित्र की सिद्धि के ध्येय से चला। उसने जो कुछ किया वह निश्चयचारित्र की सिद्धि के लिए किया। जैसे यहाँ कोई भी पुरुष गृहस्थ धन के लिए धन नहीं कमाया करते हैं किन्तु इज्जत के लिए धन कमाते हैं। बड़े आडम्बर ठाठ बढ़ाते हैं, वे ठाठ के लिए ठाठ नहीं बढ़ाते हैं, अपनी इज्जत के लिए ठाठ बढ़ाते हैं। जैसे यहाँ गृहस्थों का जितना भी करने धरने का प्रयोजन है वह सब इज्जत के पोषक के लिए है। उनका सर्वोत्कृष्ट एक ही ध्येय रहता है। जो साधारणतया गृहस्थ है उनकी बात कही जा रही है। यह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि गृहस्थों की बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु सामान्यतया जो गृहस्थ परिपाटी है वह इस बुनियाद पर बढ़ी चली जा रही है कि वे धन कमायें तो इज्जत के लिए, जो कुछ भी कार्य करना चाहते हैं अपनी इज्जत के लिए। एक इज्जत का उद्देश्य न रहे फिर इसके बाद केवल दो रोटियों का ही तो प्रयोजन रह गया। दो रोटी खाने को मिल जायें;क्षुधा तृष्णा की शांति हो जाय। क्या क्षुधा तृष्णा की शांति हो इतने मात्र के लिए इतने कर्तव्य यह पुरुष करता है? आप सब इस बात को परख सकते हैं कि जो कुछ भी यह गृहस्थ करना चाहता है वह इज्जत की वृद्धि के लिए करना चाहता है। यों ही समझो साधुवों की बात। वे जो भी करना चाहते हैं सब निश्चयचारित्र की सिद्धि के लिए करना चाहते हैं।

साधु के विहार का प्रयोजन—साधु खेल देखने के लिए विहार नहीं करते हैं, उनके विहार का प्रयोजन निश्चयचारित्र की सिद्धि है। उनके विहार का प्रयोजन है विहार न करना पड़े। अविहारस्वभाव की दृष्टि के लिए,

अविहारस्वभाव में स्थिरता पाने के लिए वे विहार करते हैं। जैसे सम्यग्दृष्टि पुरुष भोगों से निवृत्ति पाने के लिए भोग भोगता है। इसे अज्ञानी पुरुष मान नहीं सकते हैं तो अच्छा एक दृष्टान्त और लो, जैसे रोगी पुरुष औषधि खाने के लिए कड़वी औषधि नहीं खा रहा है, इसे छोड़ने के लिए खा रहा है, ऐसे ही सम्यग्दृष्टि पुरुष मैं इन भोगों से निवृत्त हो जाऊ, ऐसी भावना सहित प्रवृत्त होता है। क्या करे वह उदयवश आ पड़ा है, उस प्रसंग में लिपट गया है किन्तु उनसे निवृत्ति का उसके अन्तर में भाव रहता है। ऐसे साधु संत पुरुष जो भी व्यवहार किया करते हैं वे व्यवहार क्रिया के अनुराग से नहीं करते हैं किन्तु ये क्रियाए करना भी मेरे आत्मा का स्वभाव नहीं है, मेरा स्वभाव तो शुद्ध ज्ञानानन्द का अनुभवमात्र है, मैं उस ज्ञानानन्द सहजस्वभाव को ही देखू, यह निरन्तर भावना रहती है और इसकी सिद्धि के लिए वह समस्त व्यवहार कार्य करता है।

विहार का प्रयोजन रागद्वेष का परिहार—सीधा समितिसहित चलना, उठना, खाना, बोलना व्यवहार करना भी होता रहे, किन्तु तप करने का लक्ष्य नहीं मालूम है तो कैसे कहा जा सकता है कि वह कर्मों की निर्जरा कर सकता है? हम साधु हैं, साधु को देख भालकर चलना चाहिए इस कारण मैं देखकर चलूगा, ऐसे राग से जो चलता है उसने अपना लक्ष्य ही नहीं साधा है। क्या चलते रहने के लिए चलता है? अरे यह चलना मेरे आत्मा का स्वरूप नहीं है, मैं विहार स्वभावी हू, किन्तु क्या करू, ऐसी विकट परिस्थिति है कि मैं यहाँ बना रहू तो रागद्वेष की उत्पत्ति की सम्भावना है। अत: अपने ज्ञानस्वरूप में स्थिर यह सकें, ऐसे ज्ञानस्वरूप की स्थिरता की पात्रता बनी रहे, इसलिए विहार कर रहा हू। इस उद्देश्य से वे चल रहे हैं। चलने के लिए नहीं चल रहे हैं।

साधु के आहार का प्रयोजन—साधुसंत भोजन के लिए भी चर्या करते हैं, पर भोजन के लिए वे भोजन नहीं करते हैं। जैसे अज्ञानीजन एक स्वाद की मौज लेने के लिए भोजन करते हैं अथवा पेट भरे, सुख से रहें, मौज से रहें, इसके लिए आहार ग्रहण करते हैं। साधुजन इसके लिए आहार ग्रहण नहीं करते हैं। वे ऐसा चिंतन करते हैं, इस आत्मा का तो केवल ज्ञानभाव और आनन्दभाव स्वरूप है, न शरीर का सम्बन्ध है और न यहाँ कोई भूख की गुञाइश है, किन्तु अनादि से भ्रम बुद्धि के कारण जो खेल बन रहे हैं शरीर ग्रहण करना, भूख लगना आदिक जो कुछ रचना चल रही है उस लपेट में आया हुआ यह मैं क्या करू? यदि, क्षुधा की वेदना को शांत न करू तो असमय में ही इन प्राणों का वियोग हो सकता है और असमय में प्राणवियोग हो जाने पर आगे फिर शरीर मिलेंगे और फिर वही विडम्बना चलेगी। यह शरीर भी मेरे न रहो, इसका अनाहार स्वभाव है, सबसे विविक्त केवल ज्ञानरूप रहना इसका सहजभाव है, ऐसी मेरी परिणति बने इस उद्देश्य से उन्हें आहार ग्रहण करना पड़ रहा है।

ज्ञानी के वचनव्यवहार का प्रयोजन—ज्ञानी बोलता है दूसरों से, तो बोलने के लिए नहीं बोलता है, किन्तु जिस बोलने से आत्मकल्याण का सम्बन्ध है वही बोल बोलते हैं। धर्मोपदेश भी देते हैं साधुजन, लेकिन अपना व्यक्तित्व जाहिर करना है इस दृष्टि से नहीं, वे तो जो कुछ कह रहे हैं अपने आपको कह रहे हैं ऐसी उन्मुखता उनके धर्मोपदेश में होती है। अथवा जैसे कि स्वयं को पहिचाना है कि आनन्द का मार्ग है तो कुछ परम करुणा उत्पन्न होती है तो अपने आपसे सम्बन्ध न तोड़कर, अपनी आत्मदृष्टि को न तोड़कर उपदेश देते हैं। उनका देशना से भी प्रयोजन नहीं, उनका प्रयोजन तो निश्चयचारित्र की सिद्धि है। वे जो कुछ करते हैं, करना पड़ता है, प्रयोजन उनका प्रत्येक क्रिया में निश्चयचारित्र की सिद्धि का है। यों उनके व्यवहारचारित्र निश्चयचारित्र की साधना के लिए है।

निर्वाण के कारणभूत निश्चयचारित्र के वर्णन का संकल्प—सो अब आचार्य देव यहाँ कह रहे हैं कि व्यवहारचारित्र का तो वर्णन किया है, अब आगे निश्चयचारित्र का वर्णन करेंगे, जिसके सम्बन्ध के बिना व्यवहारचारित्र से कर्मनिर्जरा की सिद्धि नहीं होती है। यह निश्चयचारित्र गतिरहित अवस्था का कारण है। इस गतिरहित अवस्था की पंचम गति के नाम से भी प्रसिद्धि है। कोई 5 वीं गति नहीं है। गति तो 4 ही हैं। गति के मायने अवस्था। एक 5 वीं अवस्था है। साहित्य में तो मरण का नाम भी 5 वीं गति बताया है लोक व्यवहार में। जैसे लोग कहते हैं कि यह पंचत्व को प्राप्त हुआ, पंचगति को प्राप्त हुआ मायने मर गया। मोक्षमार्ग के प्रसंग में जन्ममरणरहित होने का नाम पंचम गति है। तो उद्देश्य वश उसका अर्थ लगाया जाता है। संसार में 4 गतियां हैं। उन चारों गतियों से विलक्षण गतिरहित है जहां कभी रंच भी आकुलता न होगी, ऐसी उस निर्वाण दशा को पंचमगति कहते हैं।

निर्वाण के कारणभूत भाव व निर्वाण के कारणभूत भावों का विषय—आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव को निरखकर, अपने को ज्ञानमात्र जानकर उस ज्ञानानन्दमात्र स्वरूप में ही रमण करे—यही है निश्चयचारित्र। यह निश्चयचारित्र शुद्ध जीवत्व पारिणामिक भाव की दृष्टि बिना नहीं उत्पन्न होता है। इस कारण जो जीव के स्वतत्त्वों में पंचम तत्त्व है उस पंचमभाव की दृष्टि रहे, उस दृष्टि में यथापद औपशमिक, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक भाव प्रकट होता है और उस पंचमभाव से सम्बन्ध रखते हुए ये तीन भाव निर्वाण के कारण पड़ते हैं। यों ज्ञानी संत निश्चय चारित्र का ग्रहण करते हैं, अत: निश्चय चारित्र के परम्परया कारणभूत व्यवहारचारित्र के बाद अब 5 वें अधिकार में निश्चयचारित्र का वर्णन आयेगा। यह निश्चयचारित्र मोक्ष का परम कारण है, जिस चारित्र के बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी बना रहे तो क्षेत्रसंसर्गादि वातावरण के बिना जैसे कोठे में बीज पड़े हुए हैं, वे अंकुरित नहीं हो सकते। यों ही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तब तक सफलीभूत नहीं हो पाते जब तक निश्चयचारित्र में प्रगति नहीं हो पाती।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की युगपत् उत्पत्ति—ये दर्शन, ज्ञान, चारित्र—तीनों एक साथ उत्पन्न होते हैं। जिस काल में सम्यग्दर्शन हुआ उस काल में यह ज्ञान सम्यग्ज्ञान बन जाता है और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान के होते ही किसी न किसी अंश में अपने स्वरूप का आचरण हुआ करता है। यों सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण ये तीनों एक साथ होते हैं। सम्यग्दर्शन से पहिले वही ज्ञान जो बिल्कुल सही रूप में ही जान रहा था सम्यग्ज्ञान नहीं रहता।

सम्यग्दर्शन के साथ ही ज्ञान का सम्यक्पना पर दृष्टान्त—जैसे आपने किसी ने चर्चाएं खूब सुनी हैं। श्रवणबेल गोल में बाहुबली स्वामी की मूर्ति है, इतनी बड़ी है, ऐसा आकार है, ऐसी मुद्रा है, चित्रों में भी देखा है, कुछ मंदिरों में उस प्रकार की प्रतिमा के दर्शन भी किये हैं, कहीं नाप तौल भी लिखी होगी, मूर्ति इतनी बड़ी है, हाथ इतने बड़े हैं, अंगुली इतनी बड़ी हैं। पैर इतने बड़े हैं, ऐसा सही-सही जान रहे हैं, विपरीत नहीं जान रहे हैं। जो लोग बाहुबली की उस मूर्ति को देख आए हैं जैसी मूर्ति है वैसा ही जान रहे हैं, किन्तु जब इसे सुयोग मिले, वहाँ पहुंचे और उस मूर्ति के साक्षात् दर्शन करे तो उस दर्शन करने के समय जो दृढ़ता आती है अपने ज्ञान से जितना जो कुछ समझा था उस बाहुबली की मूर्ति के सम्बन्ध में, उस समय क्या भाव होते होंगे? ओह यह है ठीक है। उसका दर्शन करके बाहुबली की प्रतिमा विषयक जो ज्ञान हुआ है, उस ज्ञान में और दर्शन से पहिले जो बाहुबली की प्रतिमा विषयक ज्ञान हो रहा था उसमें कुछ अन्तर है कि नहीं? यों ही आत्मा की बात है।

सम्यग्दर्शन के साथ ही ज्ञान का सम्यक्पना—यह आत्मा स्वकीय द्रव्य गुण पर्यायात्मक है, ज्ञानादिक अनन्त गुणों का भंडार है, यह अपने स्वरूप से परिणमता है दूसरे के रूप से नहीं परिणमता।, यह केवल ज्ञान प्रकाशमात्र है, बहुत-बहुत बातें जानी। जाना यथार्थ जैसा कि स्वरूप है। एक तो यह जानन हुआ। अब वही पुरुष कुछ भेदविज्ञान के साधन से, कुछ बाह्यपदार्थ विषयक संकल्प विकल्प हटा लेने से अपने आपकी ओर इसकी कुछ जानने की इच्छा होने से अब इसका जो अपने आपमें प्रवेश हो रहा है और वहाँ संकल्प विकल्प जाल छूटकर जो अपने आत्मस्वरूप का दर्शन हो रहा है उस दर्शन के बाद, उस अनुभवन के बाद, ज्ञानमात्र अपने आपका अनुभव हो चुकने के बाद आत्मा में वे सब ही बातें, वही सब ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है, वह यही ज्ञानानन्दमात्र है। यों विशद बोध हो जाता है। आत्मदर्शन से पहिले का जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता है। हालांकि वह ज्ञान वही जान रहा है जैसा कि आत्मदर्शन के बाद जाना है किन्तु आत्मदर्शन हुए बिना आत्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। आत्मदर्शन के साथ का आत्मस्वभाव का परिज्ञान सर्व सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यक्चारित्र भी शुद्ध ज्ञायकस्वरूप के अनुसार अपने उपयोग का बनाना, यही है सम्यक्चारित्र।

निश्चयचारित्र के सम्बन्ध से सफलता—ये तीनों यद्यपि एक साथ प्रादुर्भूत होते हैं किन्तु सम्यग्दर्शन की पूर्णता पहिले होती है और सम्यग्ज्ञान की पूर्णता पश्चात् होती है और सम्यक्चारित्र की पूर्णता अंत में होती है। यहाँ प्रयोजन के प्रसंग में जितना धारण करने योग्य परमचारित्र है उस पर परमचारित्र की बात कही जा रही है। यह सम्यग्ज्ञान की पूर्णता से पहिले ग्रहण करना चाहिए। इसके ही फल में यह ज्ञान केवलज्ञानरूप विकसित हुआ करता है। तो जैसे कोठे में अनाज पड़ा हुआ है, वह अंकुरित नहीं होता है, वही अनाज खेत में पड़े, वैसे ही जलवायु का ग्रहण करे तो वह अंकुरित होता है और फल देने वाला हो जाता है, इसी प्रकार यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान जब इसे अपने आपके स्वरूप की स्थिरता होती है तब अपने आपके स्वरूप की स्थिरता के प्रताप से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र इन—तीनों की एकता होकर यह मोक्ष के फल को फलाने लगता है, ऐसा यह निश्चयचारित्र है।

निश्चयचारित्र का अभिनन्दन—यह निश्चयचारित्र बड़े-बड़े महापुरुषों के द्वारा, परम योगियों के द्वारा वंदनीय है। योगीश्वर एक इस ज्ञायक स्वरूप की स्थिरता की उपासना किया करते हैं, ऐसे इस चारित्र को हम बार-बार वंदन करते हैं। कोई भी पुरुष व्यक्ति को नहीं पूजता है, वह उसके गुणों को पूजता है और उसके भी गुणों को नहीं पूजता है, किन्तु अपने आपके गुणों को पूजता है। जिसको दूसरे के ज्ञान गुण पर अभिनन्दन होता है, हर्ष होता है उसे दूसरे के ज्ञान पर हर्ष नहीं होता है, किन्तु अपने आपके गुणों पर हर्ष होता है तो अभेदरूप से, अभेद वंदनरूप से इस परमचारित्र को में वंदता हू। ऐसा संकल्प रखते हुए आचार्य देव कह रहे हैं कि अब मैं निश्चयचारित्र को कहूगा।

कल्याण प्रगति के लिये निश्चयचारित्र व व्यवहारचारित्र का परस्पर सहयोग—यह निश्चयचारित्र ही वास्तव में शील है, और अंग्रेजी में सील कहते हैं वस्तु को यथास्थान अवस्थित कर देना दृढ़ता से। अपने आपका उपयोग अपने आपमें जमा रहे, फिर गड़बड़ी न हो, ऐसा सील कर देना वही तो निश्चयचारित्र है, यही आत्मस्वभाव है। निश्चयचारित्र परम निर्वाण का साक्षात् कारण है और व्यवहारचारित्र परमनिर्वाण का परम्परा कारण है। व्यवहारचारित्र का काम निश्चयचारित्र की पात्रता बनाए रखना है और निश्चयचारित्र का काम साक्षात् कर्मनिर्जरण करके मुक्त अवस्था को प्राप्त कराना है। जैसे कोई दो बालक लड़ रहे हों, वहाँ कोई तीसरा बालक आकर एक बालक का हाथ पकड़ ले,

रोक ले तो मारने वाले बालक को अवकाश मिला कि पीट सकता है। कहने को तो यह है कि उस तृतीय बालक ने तो नहीं पीटा, परन्तु पिटाने में परम्परया दृढ़ कारण हुआ। यों ही व्यवहारचारित्र ने कर्मों की निर्जरा नहीं की, लेकिन ऐसी स्थिति उत्पन्न की कि इस निश्चयचारित्र को मौका मिल गया। अब यह निश्चयचारित्र अपने मूल व्यवहार के साथ कर्मों की निर्जरा कर रहा है, ऐसे परमकल्याण के कारणभूत निश्चयचारित्र को हमारा अभिनन्दन हो। अब आगे उसही निश्चयचारित्र के विषय में प्रसंग बदल-बदलकर वर्णन किया जायेगा और प्रथम ही परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार नाम से उस निश्चयचारित्र की दृष्टि का पोषण किया जायेगा।

।। नियमसार प्रवचन पंचम भाग समाप्त ।।